

मान मन्दिर बरसाना

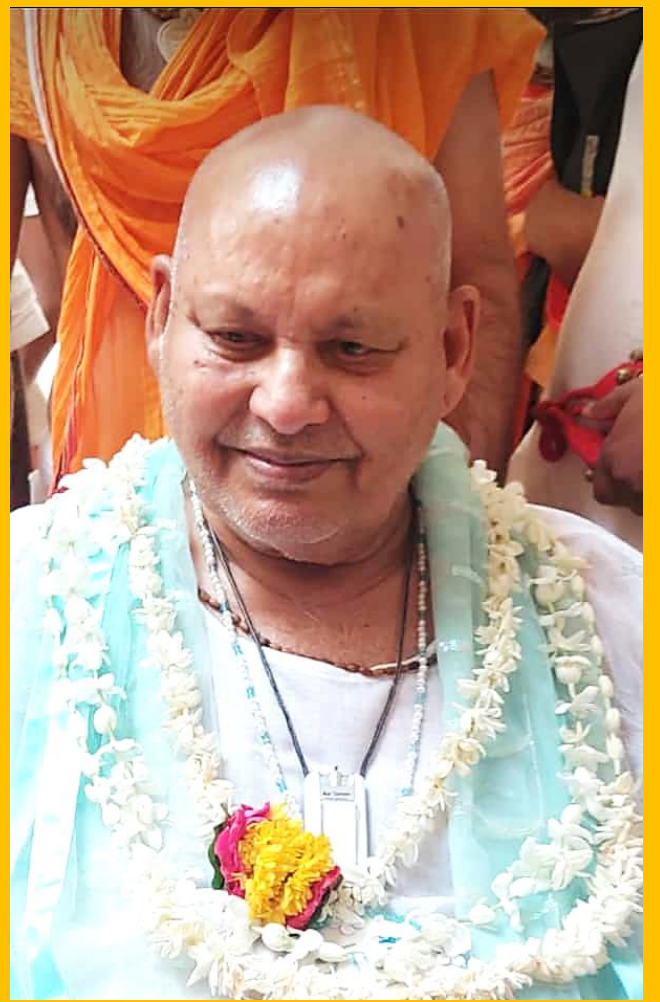
मासिक पत्रिका, जुलाई २०२३, वर्ष ०७, अंक ०७

गुरुपूर्णिमा
विशेषांक

लीला मंचन में
पूज्यश्री बाबाश्री
श्रीजी स्वरूप में

१

मूल्य १०/-



संध्याकालीन नित्य आराधना : रसिया गायन एवं लीला मंचन के दृश्य



अनुक्रमणिका

विषय- सूची	पृष्ठ- संख्या
१ सद्भावना ही सद्गुरु.....	०५
२ वास्तविक दीक्षा 'श्रीभक्ति-दान'.....	०९
३ दीक्षा का फल 'सत्संगमय जीवन'.....	१२
४ सर्वमंगलकारी 'निष्काम संकीर्तन'.....	१५
५ साक्षात् श्रीकृपा-स्वरूप 'श्रीसद्गुरुदेव'.....	१८
६ श्रीसद्गुरु का सच्चा स्वरूप.....	२१
७ भारतीय संस्कृति की संरक्षिका 'गुरुकुल-प्रणाली' ...	२३
८ 'गुरुतत्व' का सम्यक् बोध.....	२५
९ दिव्य दीक्षा.....	३१

॥ राधे किशोरी दया करो ॥

हमसे दीन न कोई जग में,
बान दया की तनक ढरो |
सदा ढरी दीनन पै श्यामा,
यह विश्वास जो मनहि खरो |
विषम विषयविष ज्वालमाल में,
विविध ताप तापनि जु जरो |
दीनन हित अवतरी जगत में,
दीनपालिनी हिय विचरो |
दास तुम्हारो आस और की,
हरो विमुख गति को झगरो |
कबहूँ तो करुणा करोगी श्यामा,
यही आस ते द्वार पर्यो | — पूज्यश्री बाबामहाराज कृत



संरक्षक— श्रीराधामानबिहारीलाल

प्रकाशक — राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर सेवा संस्थान,
गढ़रवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.)

mob. राधाकांत शास्त्री9927338666

ब्रजकिशोरदास.....6396322922

(Website :www.maanmandir.org)

(E-mail :info@maanmandir.org)

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा
आप प्रातःकालीन सत्संग का ७:३० से ८:३० बजे तक तथा
संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:३० से ८:०० बजे तक
प्रतिदिन लाइव प्रसारण देख सकते हैं |

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी
द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान —

“मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक
रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के
लिए गौ-सेवा-यज्ञ में भाग ले |”

* योजना *

अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन
निकालें व मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक अथवा
वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवाद्रव्य किसी
विश्वसनीय गौसेवा प्रकल्प को दान कर गौरक्षा
कार्य में सहभागी बन अनन्त पुण्य का लाभ लें |
हिन्दूशास्त्रों में अंशमात्र गौसेवा की भी बड़ी महिमा
का वर्णन किया गया है |

विशेष:— इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्-कृपा के पात्र बनें |
हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है —

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ | जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ||

(श्रीमद्भागवत ३/७/४१)

अर्थ:— भगवत्तत्त्वके उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है, समस्त वेदों के अध्ययन,
यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य उस पुण्य के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता |

प्रकाशकीय



‘गुरु’ तत्त्व की प्रशंसा समस्त शास्त्र व प्राज्ञजनों द्वारा सर्वत्र की गई है। ‘ईश्वर’ के अस्तित्व में लोग मतभेद कर सकते हैं किन्तु ‘गुरु’ के लिए कोई मतभेद नहीं है। भगवान् राम के पिता राजा दशरथ के दरबार में गुरु वसिष्ठजी से भला कौन परिचित नहीं है, जिनके परामर्श के बिना कोई राजकार्य नहीं होता था। गुरु की भूमिका केवल अध्यात्म या धार्मिकता तक ही सीमित नहीं रही है। राष्ट्र के समक्ष राजनैतिक आपदा आने पर गुरुजनों ने ही राष्ट्र को आपदाओं से उबारा है। ‘गुरु’ का स्थान माता-पिता एवं स्वयं भगवान् से भी ऊपर रहा है, इसीलिए कहा गया है –

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

सन्त कबीरजी कहते हैं – हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहीं ठौर ।

श्रीकबीरजी ने उनकी महिमा को अनन्त भी बताया है – सत् गुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार ।

लोचन अनन्त उघाइया, अनन्त दिखावण हार ॥

अन्धकार को हटाकर प्रकाश की ओर केवल ‘गुरु’ ही ले जा सकता है, अन्य कोई नहीं। गुरु-परम्परा का निर्वाह भगवान् राम-कृष्ण भी करते हैं – राम-कृष्ण सबसे बड़ा, उनहू तो गुरु कीन ।

तीन लोक के वे धनी, गुरु आज्ञा आधीन ॥

‘गुरु’ के बिना कोई भी संसार-सागर से पार नहीं जा सकता; चाहे वे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर ही क्यों न हों ?

गुरु बिन भवनिधि तरङ्ग न कोई । जो बिरंचि संकर सम होई ॥

‘गुरु’ की जहाँ इतनी महिमा है, वहीं यह भी है कि ‘गुरु’ का लाभ ‘सत् शिष्य’ को ही मिल पाता है और सच्चे शिष्य को कोई ‘सद्गुरु’ ही सन्मार्ग पर ले जा सकता है। आजकल कलिकाल में गुरु और शिष्य केवल नाममात्र के ही अधिकांशतः होते हैं। कहा गया है कि ‘गुरु’ शिष्य की जेब काटता रहे और ‘शिष्य’ गुरु को ठगता रहे, ऐसे गुरु-शिष्य दोनों ही त्याज्य हैं।

कपटी गुरु लालची चेला । दोनों नरक में ठेलम ठेला ॥

गुरु-पूर्णिमा आती है तो लोग बड़े-बड़े उत्सव मनाते हैं। उन सब क्रियाओं में गुरु-शिष्य दोनों में ही सर्वत्याग और निष्कामता का गुण होना चाहिए।

गुरु को ऐसा चाहिए शिष्य का कछु नहीं लेय । शिष्य को ऐसा चाहिए गुरु को सर्वस देय ॥

सर्वसमर्पण के बाद ही शिष्यत्व सिद्ध होगा ।

प्रबन्धक

राधाकान्त शास्त्री

श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

सद्भावना ही सद्गुरु

बाबाश्री के प्रातःकालीन सत्संग (२९/१२/२०२२) से संकलित

गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

‘अर्जुन’ दुनिया के सबसे बड़े धनुर्धर थे, हैं, अब तक उनके टक्कर का धनुर्धर न कोई हुआ, न होगा। अर्जुन ने सिद्ध कर दिया कि गुरु आदि कुछ नहीं हैं। गुरु तो साक्षात् भगवान् ही होता है। गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही शिव है किन्तु ‘गुरु’ साक्षात् परब्रह्म, साक्षात् भगवान् है। सारा संसार इस श्लोक को गाता है किन्तु इस श्लोक को समझा कोई नहीं। गुरु तो साक्षात् भगवान् होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर – ये तीनों गुरु हैं परन्तु एक चौथा गुरु है भगवान्। इस बात को सब लोग ध्यान से समझो - ब्रह्मा, विष्णु और शंकर रूपी गुरु के अलावा एक गुरु और है, वह साक्षात् परब्रह्म भगवान् है। ब्रह्मा नहीं, विष्णु नहीं, शंकर नहीं, ये तो भगवान् है। कोई आवश्यकता नहीं है ब्रह्मा की, कोई आवश्यकता नहीं विष्णु की, कोई आवश्यकता नहीं शिव की। अगर ब्रह्माजी नहीं हों तो क्या करेगा मनुष्य, विष्णु न हों तो क्या करेगा, शंकर नहीं तो क्या बैठा रहेगा? नहीं, बैठो मत; ‘गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः’ – साक्षात् भगवान् को गुरु मान लो। इस बात को एकलव्य ने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। एकलव्य भील जाति का था, जो सबसे नीच जाति मानी जाती है; वह जंगल में रहता था। एक बार वह द्रोणाचार्यजी के पास गया और बोला कि मुझे धनुर्विद्या सिखा दीजिये। द्रोणाचार्यजी ने कहा – ‘नहीं, तू भील है, नीच जाति का है, तुझे मैं धनुष विद्या नहीं सिखाऊँगा।’ इस तरह द्रोणाचार्यजी ने उसे फटकारकर भगा दिया। एकलव्य को बड़ा दुःख हुआ, उसने सोचा कि संसार के सबसे बड़े धनुर्वेद के ज्ञाता द्रोणाचार्यजी और इन्होंने मुझे फटकारकर भगा दिया, अब मैं क्या करूँ? किन्तु वह निराश नहीं हुआ, वह सघन वन में गया और वहाँ उसने मिट्टी की द्रोणाचार्यजी की एक मूर्ति बनायी; उसका आशय था कि तुम मत सिखाओ, मैं भगवान् को गुरु मानता हूँ, वे मुझे सिखायेंगे।

हम ये कथा इसलिए सुना रहे हैं कि जब गुरु भी निकाल देता है, उस समय भगवान् काम में आता है। ब्रह्मा, विष्णु

और शिव – ये तीन गुरु हैं। अगर ये तीनों निकाल दें तो मनुष्य कहाँ जाएगा? तो शास्त्र में कहा गया कि घबराओ नहीं, साक्षात् भगवान् ही गुरु हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर निकाल सकते हैं किन्तु भगवान् नहीं निकालते हैं। वे भगवान् परब्रह्म हैं, जो न ब्रह्मा हैं, न विष्णु हैं और न शिव हैं; ‘भगवान्’ इन तीनों से अलग हैं। हमारा सनातन धर्म बहुत बढ़िया है, अगर ब्रह्माजी निकाल दें, विष्णु निकाल दें, शिव निकाल दें तो भी घबराओ मत, भगवान् हैं। जिसका कोई नहीं है, न ब्रह्मा है, न विष्णु है और न शिव है, उसका भगवान् है। ‘गुरु’ ही भगवान् है। “गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।” उस गुरु रूपी भगवान् के पास जाओ। वह कभी नहीं निकालेगा, चाहे ब्रह्माजी निकाल दें, चाहे विष्णुजी निकाल दें और चाहे शंकरजी निकाल दें। ‘गुरु तत्त्व’ व्यापक ब्रह्म है, वह नहीं निकालेगा।

जब द्रोणाचार्यजी ने एकलव्य को फटकारा – ‘तू नीच जाति का भील है। मैं तो क्षत्रिय राजकुमारों को ही धनुर्विद्या सिखाता हूँ। तू यहाँ से भाग जा।’ द्रोणाचार्यजी के ऐसे बर्ताव से एकलव्य को ठोकर लगी। जब मनुष्य को ठोकर लगती है, तब वह कुछ समझता है कि अरे, दुनिया में मेरा कोई नहीं है।

हम ये कथा इसलिए सुना रहे हैं क्योंकि हमने मान मन्दिर में एक संगीत विद्यालय खोलने का विचार किया है, किन्तु क्या करें, हमारे पास पैसा नहीं है और संगीत सिखाने वाले को देने के लिए पैसा चाहिए किन्तु हमने तो आज तक कभी पैसा नहीं रखा। बचपन से अपने घर में भी हमने पैसा नहीं रखा। विश्वविद्यालय में अध्ययन कर लिया किन्तु वहाँ भी पैसा नहीं रखा। हमारी पढ़ाई की फीस दूसरे लड़के जमा कर देते थे। पैसा हमने आज तक कभी छुआ नहीं। इसलिए ‘संगीत विद्यालय’ के लिए श्रीजी को याद करके हम यहाँ जंगल में रोने लगे और उनसे कहा – ‘हे राधे! न हमारे पास पैसा है, न कोई शक्ति है, हमसे ज्यादा कमजोर इस दुनिया में कोई नहीं है किन्तु सुना है कि आप दीनों की सरकार हैं। दीन वही है, जिसके पास कुछ नहीं हो।’ हम झूठ नहीं बोल रहे

हैं, उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि आकाश में कोई देवी खड़ी हैं और उन्होंने आशीर्वाद देने की मुद्रा में अपना हाथ उठाया। अंदाज से हम समझ गये कि ये राधारानी हैं। हम झूठ नहीं कहते, जो कुछ भी कहते हैं, सत्य कहते हैं। श्रीजी ने जब अपना हाथ हिलाया तो हम समझ गये कि श्रीजी चाहती हैं कि यहाँ संगीत की शिक्षा चले। उसके बाद चमत्कार शुरू हुआ। सच्चा चमत्कार, उसे सुन लो, देख लो और समझ लो। मान मन्दिर की बालिका 'श्रीजी' गवाह है, यह संगीत के कार्यक्रम के लिए भारत के बड़े-बड़े कलाकारों के पास गयी। सभी प्रसिद्ध कलाकार मान मन्दिर आने के लिए तैयार हो गये और किसी ने पैसा नहीं माँगा। जब इसने हमें बताया कि संगीत के सभी कलाकार मान मन्दिर में आने के लिए तैयार हो गये हैं और कोई भी पैसा नहीं लेगा तो हम समझ गये कि मान मन्दिर में 'संगीत का महाविद्यालय' बनेगा और बिना पैसे के बनेगा। भारत में जहाँ भी श्रीजी संगीत के कलाकारों के पास गयी, किसी ने भी पैसा नहीं माँगा, जबकि कलाकार तो बिना पैसे के थूकेगा भी नहीं। इन कलाकारों ने पैसा क्यों नहीं माँगा, क्योंकि हम स्वयं ही पैसा नहीं रखते हैं। राधारानी जानती हैं कि हमारे पास न कभी पैसा था, न है और न होगा। इसी तरह से मान मन्दिर से ब्रज चौरासी कोस की निःशुल्क यात्रा चली। जिस समय कोरोना फैला, वह ब्रज की सभी यात्राओं को खा गया। कोरोनाकाल में सरकार ने ब्रज में एक भी यात्रा चलने की अनुमति नहीं दी थी। इतनी बड़ी 'इस्कॉन संस्था' को बहुत कठिनाई से केवल छः लोगों के साथ यात्रा करने की अनुमति मिली। छः लोगों के साथ कहीं ब्रजयात्रा होती है। हमसे (बाबाश्री से) भी लोगों ने कहा कि महाराज! इस बार कोरोना के कारण 'मान मन्दिर' को ब्रजयात्रा कराने की अनुमति नहीं मिलेगी। हमने कहा कि सरकार की अनुमति मिले चाहे न मिले, मान मन्दिर की यात्रा अवश्य जायेगी और जिसको डर लगता है, वह भले ही न जाये और जिसको जेल जाना हो, वह हमारे साथ चले। सरकार ने 'मानमन्दिर' को केवल डेढ़ सौ लोगों के साथ ब्रजयात्रा करने की अनुमति दी थी। 'श्रीराधारानी ब्रजयात्रा' चली और छः सौ से अधिक लोग यात्रा में चले। ब्रज के हर गाँव में ब्रजवासियों की तरफ से ही सभी यात्रियों को भोजन कराया गया। पहले की यात्राओं

में जितना खर्च भोजन आदि में होता था, कोरोना काल की उस यात्रा में इस तरह का कोई खर्च नहीं करना पड़ा।

ये सब हम इसलिए बता रहे हैं कि आकाश में एक दिव्य किशोरी (बालिका) ने हाथ हिलाकर हमें 'संगीत विद्यालय' चलाने की अनुमति प्रदान कर दी। हमने उस श्रीदेवी को 'राधारानी' मान लिया। हमने कहा – 'हे राधे! हमारे मन में बरसाना (गह्वरवन) में 'संगीत विद्यालय' खोलने की इच्छा हो गयी है किन्तु मेरे पास पैसा नहीं है और बिना पैसे के कोई भी कलाकर संगीत नहीं सिखाएगा। भारतवर्ष में एक भी कलाकर ऐसा नहीं है, जो बिना पैसे के संगीत सिखा दे।' राधारानी की कृपा से मानमन्दिर में देश के प्रतिष्ठित कलाकार आने लगे और निःशुल्क ही संगीत का प्रशिक्षण देने लगे हैं।

जब एकलव्य को द्रोणाचार्यजी ने धनुर्विद्या नहीं सिखाई और फटकारकर भगा दिया तो उस समय उसे इस सत्य का स्मरण हुआ कि यदि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव जैसे त्रिदेव भी जीव को भगा दें तो भी "गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।" गुरु साक्षात् भगवान् है, वह नहीं निकालता है। एकलव्य ने जंगल में द्रोणाचार्य की एक मूर्ति बनायी और अभ्यास करने के लिए बैठ गया, उसके अन्दर सच्ची भक्ति थी, सच्ची गुरु निष्ठा थी। मिट्टी के शरीर वाला पाञ्चभौतिक शरीर वाला गुरु क्या करेगा? द्रोणाचार्य ने एकलव्य को निकाल दिया था। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी जीव को निकाल दें, फिर भी एक गुरु है और वह है साक्षात् भगवान्। हमारे यहाँ संगीत का महाविद्यालय अवश्य ही बनेगा। कोई मनुष्य गुरु नहीं है। 'भगवान्' ही गुरु हैं, अतः भगवान् को पकड़ो। 'गुरु' से ही 'गोरु' शब्द भी बना है, जिसका अर्थ है – 'पशु'; जो कुछ चाहता है, वह पशु अर्थात् गोरु है, अतः गोरु को मत पकड़ो, 'गुरु' को पकड़ो, जो साक्षात् परब्रह्म (भगवान्) हैं। जब ब्रह्मा, विष्णु और शिव निकाल देंगे, तब साक्षात् भगवान् गुरु बनकर आएगा। इस सम्बन्ध में भक्तमाल में अनेक कथाएँ हैं। भक्तमाल इस प्रकार की कथाओं से परिपूर्ण ग्रन्थ है, हम कोई गप्प नहीं सुना रहे हैं। गुरु का शरीर तो मिट्टी का है, इसलिए जो साक्षात् परब्रह्म है, भगवान् है, उसको गुरु बना लो और आगे बढ़ो तो दुनिया में तुम सबसे ऊँचे हो जाओगे। 'गुरु साक्षात् परब्रह्म' – परब्रह्म-भगवान् सर्वव्यापक है, वह एक मिट्टी का शरीर नहीं है। जिस

भावना से हमने यहाँ संगीत विद्यालय खोला है, जबकि हमारे पास न पैसा है, न संगीत विद्या है, केवल भावना है और इसीलिए हम सभी को भावना सिखा रहे हैं। गुरु सिखाये चाहे न सिखाये, भगवान् गुरु हैं। इस सन्दर्भ में भक्तमाल में अनेक कथायें हैं। यह प्रसंग हम इसीलिए सुना रहे हैं क्योंकि मिट्टी के शरीर वाला गुरु नाराज हो जाएगा, मना कर देगा, फटकार देगा, जैसे द्रोणाचार्य ने एकलव्य को फटकारकर भगा दिया और उसे धनुर्विद्या नहीं सिखाई। एकलव्य को बड़ी ठोकर लगी। इसलिए उसने जंगल में द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनायी और बोला – ‘गुरुदेव ! तुमने मुझे निकाल दिया, किन्तु मैं तुमसे ही धनुष विद्या सीखूँगा।’ ऐसा कहकर वह धनुष-विद्या का अभ्यास करने लगा; उस समय उसको कोई सिखाता नहीं था। आगे चलकर चमत्कार का समय आया। एक कुत्ता जंगल में भौंक रहा था। वहीं निकट ही अर्जुन आदि द्रोणाचार्य के शिष्य भी धनुष-विद्या का अभ्यास कर रहे थे। एकलव्य ने सोचा कि यह कुत्ता शान्त हो जाए। वह कुत्ते को मारना भी नहीं चाहता था, इसलिए उसने कुत्ते के मुँह में इतनी सीके चलायीं कि कुत्ता मरा भी नहीं और उसका मुख सीकों से भर गया, वह भौंक नहीं सका। अर्जुन ने देखा तो वे बहुत आश्चर्यचकित हुये और सोचने लगे कि ऐसा कौन धनुर्धर है, जिसने अनेकों सीकों के बाण कुत्ते के मुख में भर दिए, जिससे कि कुत्ता मरे भी नहीं और केवल उसका भौंकना बन्द हो जाए; ऐसी विद्या तो मेरे पास भी नहीं है। अर्जुन द्रोणाचार्यजी के पास गये और कहा कि एक भील ने कुत्ते के मुख में ऐसे सीकों के बाण चलाये कि कुत्ते का मुख उन सीकों से भर गया और वह मरा भी नहीं। ऐसी विद्या आपने मुझे तो सिखाई नहीं। द्रोणाचार्य ने पूछा – ऐसा कुशल धनुर्धर कौन है ? अर्जुन ने बताया कि इस जंगल में एक भील रहता है, ऐसा उसने ही किया है। द्रोणाचार्य ने अर्जुन से कहा कि उसे मेरे पास लेकर आओ। अर्जुन ‘एकलव्य’ के पास गये और पूछा कि तुम्हारा गुरु कौन है ? तो एकलव्य ने कहा कि श्रीद्रोणाचार्यजी मेरे गुरुदेव हैं। अर्जुन बोले – “अरे, द्रोणाचार्यजी तुम्हारे गुरु हैं और उन्होंने यह विद्या मुझे नहीं सिखायी। चलो, तुम्हें गुरुजी बुला रहे हैं।” एकलव्य

‘द्रोणाचार्यजी’ के पास गया। उसको देखकर द्रोणाचार्य बोले – ‘क्यों रे भील, मैंने तुझे कब धनुष-विद्या सिखायी ? मैं तो केवल क्षत्रिय राजकुमारों को ही यह विद्या सिखाता हूँ। तूने धनुष-विद्या कहाँ से सीखी ?’ एकलव्य बोला – ‘महाराज ! आपने तो मुझे निकाल दिया था, आपकी मूर्ति ने मुझे यह विद्या सिखायी है।’ द्रोणाचार्य ने पूछा – ‘मेरी मूर्ति कहाँ है ?’ एकलव्य सभी को वहाँ ले गया, जहाँ वह धनुर्विद्या का अभ्यास करता था। सब लोग देखने गये। सबने देखा कि वहाँ केवल द्रोणाचार्यजी की एक मिट्टी की मूर्ति थी। एकलव्य ने बताया कि इनको साक्षी मानकर मैंने बाण चलाने का अभ्यास किया। द्रोणाचार्यजी ने कहा कि यह विद्या तो मैंने अर्जुन को सिखाई नहीं। इससे पता चलता है कि एक ‘गुरु’ कोई और है, जो साक्षात् परब्रह्म है; उसी ने तुझको सिखाया है। उस परम ‘गुरु’ का दरवाजा मैं नहीं बन्द कर सकता। वह तो ‘गुरुनिष्ठा व भावना’ से मिलता है। ‘गुरुः साक्षात् परब्रह्म’ – श्रीगुरुदेव तो साक्षात् परब्रह्म ही हैं। ब्रह्माजी मना कर दें, विष्णु भगवान् मना कर दें, शंकरजी मना कर दें किन्तु परब्रह्म भगवान् मना नहीं करते हैं। द्रोणाचार्यजी की प्रतिज्ञा थी कि इस संसार में अर्जुन जैसा धनुर्धर कोई नहीं होगा किन्तु उन्होंने देखा कि मेरी प्रतिज्ञा तो टूट गयी, इसलिए मेरी प्रतिज्ञा झूठी न हो तो उन्होंने बुद्धि से युक्ति निकालते हुए एकलव्य से कहा – ‘अरे एकलव्य ! तू मेरा शिष्य है।’ एकलव्य बोला – ‘हाँ गुरुदेव ! आपसे ही मैंने धनुर्विद्या सीखी है।’ द्रोणाचार्यजी बोले – ‘शिष्य है तो गुरु को दक्षिणा देगा ?’ एकलव्य – ‘गुरुदेव ! आपने ही मुझे यह विद्या सिखायी है, दक्षिणा क्या, मेरा यह शरीर भी आपका है।’ द्रोणाचार्यजी – ‘ठीक है, अपने दाहिने हाथ का अंगूठा मुझे दक्षिणा के रूप में दे दे।’ एकलव्य सच्चा गुरु भक्त था। उसने तेज धार वाले चाकू से अपने दाहिने हाथ का अंगूठा काटकर गुरु को दक्षिणा के रूप में भेंट कर दिया। दाहिना हाथ का अंगूठा कट जाने पर एकलव्य बाण चलाने के अयोग्य हो जाए, इसीलिए द्रोणाचार्य ने चालाकी से इस सच्चे गुरुभक्त के साथ छल किया था।

भौतिक देह वाले गुरुजी ब्रह्मा हैं, विष्णु और शिव हैं किन्तु वे परब्रह्म भगवान् नहीं हैं। श्रीगुरुदेव तो साक्षात्

परब्रह्म ही हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिस विद्या को नहीं सिखायेंगे, उसको परब्रह्म 'भगवान्' सिखायेंगे। इसके लिए होनी चाहिए 'सच्ची लगन और अभ्यास'। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के चेले 'शिष्यगण' असफल हो जायेंगे किन्तु परब्रह्म भगवान् का चेला फेल नहीं होगा।

ये कथा हमने इसलिए सुनाई क्योंकि हमारे पास पैसा नहीं था और न ही संगीत का पाण्डित्य रह गया था क्योंकि पहले तो हम संगीत का बहुत अधिक अभ्यास किया करते थे किन्तु अब बिलकुल भी अभ्यास नहीं करते हैं। मानमन्दिर पर रहते हुए हमने ब्रज में भिक्षा ही माँगी। भिक्षा (मधुकरी) माँगने वाला अभ्यास क्या करेगा? किन्तु राधारानी हैं, उन्होंने आकाश में प्रकट होकर हाथ हिलाया था तो हम समझ गये कि चाहे ब्रह्मा, विष्णु और शिव नहीं हैं किन्तु राधारानी अर्थात् परब्रह्म हैं। इसलिए अवश्य ही मानमन्दिर में संगीत का विद्यालय खुलेगा और खुल ही गया है। मनुष्य में कोई शक्ति नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव में कोई शक्ति नहीं है। परब्रह्म गुरु है, उसको पकड़ो। इस संसार में जितने भी गुरु हैं, ये सब पैसा लेने वाले हैं, ये क्या विद्या सिखायेंगे? हमने सोचा कि मान मन्दिर में बिना पैसे के संगीत का महाविद्यालय खुलेगा, अगर यहाँ की सभी बालिकायें सच्ची लगन और परिश्रम के साथ अभ्यास करने लग जाएँ तो यह योजना सफल हो जाएगी। 'भगवान्' कृपा करता है। तुम सभी लोग परिश्रम के साथ अभ्यास करो तो 'संगीत का विश्वविद्यालय' अवश्य खुलेगा और खुल गया है। हमारे पास पैसा न कभी था, न है और न होगा। 'ब्रजयात्रा' चलाने के लिए भी हमारे पास पैसा नहीं था, फिर भी अब तक सफलतापूर्वक निःशुल्क यात्रा चल रही है और जब तक हम जीवित हैं भविष्य में भी चलती रहेगी। शायद हमारे बाद भी कुछ ऐसे लोग उत्पन्न हो जायेंगे, जो हमारे सिद्धान्तों को मानेंगे और इस तरह बिना पैसे के यात्रा चलती रहेगी, बिना पैसे के यहाँ शिक्षा मिलेगी, बिना पैसे के यहाँ सब काम होगा। ऐसा नहीं कि संसार में भावना नहीं है।

भावे ही विद्यते देवास्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

देवता न तो लकड़ी की मूर्ति में है, न पाषाण (पत्थर) की मूर्ति में है, मिट्टी के ही विकार सोने-चाँदी की मूर्तियाँ बनती हैं, उनमें भी देवता नहीं है। देवता तो 'भावना' में रहता है। इसी प्रकार मिट्टी के शरीर वाला गुरु क्या विद्या दान देगा? 'भगवान्' सर्वशक्तिमान है, वह सबसे बड़ा है। 'भावग्राही जनार्दनः' – 'भगवान्' भावनाओं को पकड़ता है, बाहरी क्रियाओं को भगवान् नहीं पकड़ते हैं। मनुष्य के अन्दर शक्ति न थी, न है और न होगी। किसी 'सेठ की शक्ति' न हमने कभी पकड़ी, न पकड़ते हैं और न कभी पकड़ेंगे, जब तक जीवित हैं। 'भगवान्' की कृपा से ऐसे लोग प्रकट हो जाते हैं, जो बिना कहे ही, बिना पैसे दिये ही सहायता करते हैं, बिना पैसे के काम करते हैं।

'भावे हि विद्यते देवाः तस्माद् भावो हि जनार्दनः ।'

'भगवान्' भावनाओं में रहते हैं, मूर्ति में नहीं रहते हैं। इसलिए कोई गुरु सिखाये चाहे न सिखाये; ब्रह्मा, विष्णु और शिव चाहे सिखायें चाहे न सिखायें, तुम्हारे अन्दर 'भाव' होना चाहिए। 'भाव' होगा तो दिन-रात अभ्यास करोगे। ऐसा नहीं कि गुरुजी सिखाने नहीं आये तो क्या करें? शरीर 'गुरु' नहीं होता, शरीर तो नाराज हो जाएगा, रूठ जाएगा किन्तु 'भावना' नहीं रूठेगी; ये ऐसा गुरु है, जो न मरेगा, न बीमार होगा और न कभी मना करेगा। इस संसार में 'गुरु' की तो यह स्थिति होती है कि एक बार 'बरसाना' के चिकसौली ग्राम में एक 'गुरु और चेला' का आपस में झगडा हो गया। गुरु ने नाराज होकर चेले से कहा – 'भाग जा यहाँ से, मैंने तेरे गले में जो कंठी बाँधी थी तो मैं यही समझूँगा कि मैंने किसी कुत्ते के गले में पट्टा बाँध दिया था।' गुरु की बात सुनकर चेला बोला – 'अरे गुरुजी! ज्यादा मत इतराओ, तुमने जो मेरे कान में मन्त्र सुनाया था तो मैं भी ऐसे ही समझूँगा कि कोई कुत्ता मेरा कान सूँघ गया था।' इसलिए सच्चा गुरु है 'भावना'। 'भावना' ऐसी होती है, जो कभी मरती नहीं है, चाहे गुरु सिखाये अथवा न सिखाये।

एक दवा तो ऐसी होती है जो केवल रोग को समाप्त करती है और एक दवा ऐसी होती है जो रोग को भी नष्ट करती है और स्वस्थ भी करती है। नामसंकीर्तनं यस्य हरिं परम् ॥ (श्रीभागवतजी १२/१३/२३)

भगवन्नाम इसी दवा का नाम है। हर क्षण प्रभु का नाम लेते रहो।

ये पाप भी नाश कर देगा और मंगल भी करेगा।

वास्तविक दीक्षा 'श्रीभक्ति-दान'

परमार्थ-पथ (भक्तिमार्ग) पर यथार्थ रूप से सतत् चलने व अपने आराध्य 'श्रीभगवान्' की सम्यक् प्राप्ति करने के लिए किसी सच्चे मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, जिसे सद्गुरु कहते हैं। सच्चा सद्गुरु कौन है, उसके लक्षण क्या हैं अर्थात् किन लक्षणों से हम उसकी पहचान करें तो 'सच्चे सद्गुरु के लक्षण' श्रीमद्भागवत में नारदजी ने बताये हैं – स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।

इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥

(श्रीभागवतजी ४/२९/५१)

सच्चा सद्गुरु वही है जो केवल इतना जानता हो कि 'भगवान्' ही जीव के सच्चे प्रियतम हैं और जिनके रास्ते पर चलने में अणुमात्र भी भय नहीं है।

इसी एक लक्षण के विद्यमान होने पर 'सद्गुरु' की पहचान की जा सकती है। यह लक्षण जिसमें भी हो, चाहे वह गृहस्थ हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, स्त्री अथवा पशु-पक्षी ही क्यों न हो, उसे 'सद्गुरु' के रूप में वरण कर उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा सद्गुरु विरक्त वेष में हो अथवा प्रामाणिक गुरु परम्परा में ही हो। श्रीचैतन्यचरितामृत में भी गुरु के लक्षण के बारे में कहा गया है –

'जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु ह्य ।'

जिसे कृष्ण तत्त्व का सम्यक् ज्ञान है, वही गुरु है।

भक्तमाल के अनुसार रानी रत्नावती ने अपनी दासी के अन्दर उत्कट भगवत्प्रेम के लक्षण देखकर उसी को अपने गुरु रूप में वरण कर उसकी कृपा से भक्ति व भगवन्त की प्राप्ति की थी। इसी प्रकार रामायण के अनुसार भगवान् श्रीराम के नागपाश में बाँधे जाने और चेतनाशून्य होने पर श्रीगरुडजी ने उनको इस सुदृढ बन्धन से मुक्त किया तो प्रभु की ऐसी स्थिति को देखकर उन्हें मोह हो गया और तब उन्हें महाभागवत परन्तु काकवपुधारी (कौवे के रूप वाले) कागभुशुण्डिजी के शरणापन्न होकर उनसे दिव्य उपदेशामृत का पान करने पर ही उनके इस प्रबल मोह की निवृत्ति हो सकी थी। इसी प्रकार दक्ष-यज्ञ में सतीजी के देहत्याग करने पर महादेवजी उनके दुःसह विरह की ज्वाला से जलते हुए पागलों की भाँति भटकने लगे और अन्त में

कागभुशुण्डिजी के मुख से भगवत्कथा का पान करने पर ही दारुण दुःख से मुक्त होकर उन्हें परम शान्ति की प्राप्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि भगवत्स्वरूप के वास्तविक ज्ञाता और सच्चे भगवत्प्रेमी के संग की आवश्यकता सभी को होती है चाहे अत्यन्त पतित से पतित अधम प्राणी हो अथवा अध्यात्ममार्ग के सर्वोच्च अधिकारी व ज्ञाता और ईश्वर स्वरूप देवाधिदेव महादेव ही क्यों न हों। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में लिखा –

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई ।

जौ बिरंचि संकर सम होई ॥ (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ९३)

सद्गुरु के आश्रय के बिना विश्व ब्रह्माण्ड का कोई भी जीव दुर्गम भवसागर को पार नहीं कर सकता, चाहे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अथवा ईश्वर कोटि के महादेव ही क्यों न हों।

'सद्गुरु' के रूप में भगवत्तत्त्व के ज्ञाता महापुरुष का आश्रय ग्रहण कर उनकी सेवा करने और उनसे प्रश्न करके दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान से लाभान्वित होने के लिए स्वयं श्रीभगवान् कृष्ण ने भी कहा है –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(श्रीगीताजी ४/३४,३५)

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनके शरणापन्न होकर, उनकी सेवा करने एवं उनसे निष्कपट भाव से प्रश्न करने पर परमात्मतत्त्व को भलीभाँति जानने वाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा जिस ज्ञान के द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहले अपने में और पीछे मुझ सच्चिदानन्दधन परमात्मा में देखेगा। सनातन धर्म के सभी शास्त्रों में आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश और उसमें सफलता पाने के लिए निष्किञ्चन महापुरुष की शरणागति ग्रहण करने को अनिवार्य बताया गया है। जैसे कि जडभरतजी ने परमार्थ तत्त्व के जिज्ञासु राजा रूहण को उपदेश दिया –

रूहणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।

न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

(श्रीभागवतजी ५/१२/१२)

रहूगण ! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, दान, अतिथि सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार प्रह्लादजी ने अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा –

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

(श्रीभागवतजी ७/५/३२)

जिनकी बुद्धि भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थ का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु जो लोग अकिञ्चन भगवत्प्रेमी महात्माओं के चरणों की धूलि में स्नान अर्थात् उनके चरणों की शरण नहीं ग्रहण करते, उनकी बुद्धि काम्यकर्मों का पूरा सेवन करने पर भी भगवच्चरणों का स्पर्श नहीं कर सकती ।

इससे स्पष्ट है कि निष्किञ्चन महापुरुष ही सच्चे सद्गुरु हैं और आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए उनका आश्रय परमावश्यक है । परन्तु वर्तमानकाल में समस्त आध्यात्मिक संस्थानों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के धर्माचार्यों के द्वारा जनसाधारण के समक्ष इस बात पर अधिक जोर दिया जा रहा है कि एक सम्प्रदायविशेष अथवा प्रामाणिक आचार्य परम्परा के अधिकृत सन्त से गुरु दीक्षा लेना अनिवार्य है और इस प्रकार से गुरु दीक्षा न लेने पर भगवान् का भजन करने पर भी उससे कोई लाभ नहीं होगा ।

अब उनके द्वारा गुरु-दीक्षा लेने को जो विशेष महत्त्व दिया जा रहा है तो हर बात को शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है । जिस बात का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है, उसे किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्या वास्तव में शास्त्रों एवं प्रामाणिक महापुरुषों अथवा आचार्यों ने 'सद्गुरु' को ग्रहण कर उनसे दीक्षा लेने को अनिवार्य बताया है ? नहीं ... ।

गुरु-दीक्षा है क्या, इसका क्या शास्त्रीय आधार है तो नारद पांचरात्र में कहा गया है –

दिव्यं भावं यतो दद्यात् क्षिणोति दुरितानि च ।

अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वारम्भ विशारदैः ॥

दिव्य भाव का दान ही दीक्षा है । गुरुदेव दिव्य भावों का दान करते हैं, जिनसे पाप की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है ।

नारद पांचरात्र में दीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया गया है कि जो महापुरुष जीव के हृदय में दिव्य भावों का बीजारोपण करके उसके अन्तःकरण से पाप-प्रवृत्ति का विनाश करते हैं, वे ही 'सद्गुरु' हैं और उनके द्वारा किया गया यह कृत्य ही 'गुरुदीक्षा' है । इसमें यह आवश्यक नहीं है, जैसा कि आजकल इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि गुरुदेव के द्वारा शास्त्रीय विधि से शिष्य को मन्त्रदान करना ही गुरुदीक्षा है । जीव के हृदय में दिव्य भाव का दान महापुरुष अथवा शुद्ध भक्त प्रायः कथा और कीर्तन के माध्यम से ही करते हैं । इसमें यह अनिवार्यता नहीं है कि मन्त्र प्रदान करने से ही दिव्य भावों का बीजारोपण किया गया । इसके लिए बहुत से शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं । उदाहरण के लिए जब राजा परीक्षित को तक्षक जैसे महाविषधर सर्प के द्वारा काटे जाने पर मृत्यु होने का शाप मिला तो उस समय परमहंस शिरोमणि व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी ने अहर्निश सात दिनों तक उन्हें श्रीमद्भागवत कथामृत का पान कराया, जिसके प्रभाव से तक्षक के द्वारा उसे जाने के पूर्व ही वे ब्रह्म में स्थित हो चुके थे और आगे उन्हें दिव्य भगवद्धाम की प्राप्ति हुई ।

अब यहाँ देखा जाए तो परीक्षितजी के सामने देवयोनि के तक्षक जैसे दुर्दान्त सर्प के काटने द्वारा सात दिनों में ही होने वाली मृत्यु की भयंकर परिस्थिति थी । ऐसी घोर विषम परिस्थिति में स्वयं ही शुकदेवजी उनके पास आये और उन्होंने उस समय परीक्षित जी को कोई मन्त्र दीक्षा प्रदान नहीं की अपितु सात दिनों तक अनवरत् श्रीमद्भागवत कथामृत का ही पान कराया, जिसके फलस्वरूप उन्हें परम धाम की प्राप्ति हुई । इसलिए यह तर्क पूर्ण रूप से निराधार है कि प्रामाणिक गुरु से मन्त्र दीक्षा लेना ही वास्तविक गुरुदीक्षा है और इसके द्वारा ही जीव का कल्याण होता है तथा ऐसी गुरुदीक्षा के अभाव में भजन का भी कोई फल नहीं होता है । श्रीमद्भागवत तथा विभिन्न वैष्णव शास्त्रों में कलियुग में जीव कल्याण का एकमात्र साधन हरिनाम कीर्तन को ही बताया गया है । शास्त्र में कहा गया है कि

‘भगवन्नाम’ ही एकमात्र सबसे बड़ा मन्त्र है – “एको मन्त्रस्तस्य नामानि ।” भगवन्नाम लेने में दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है । चैतन्यचरितामृत में कहा गया है –

दीक्षा पुरश्चर्या विधि अपेक्षा न करे ।

नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्या मनागीक्षते

मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥

श्रीकृष्ण नाम का जप करने के लिए किसी प्रकार की दीक्षा, शास्त्रसम्मत सत्क्रिया अथवा वैदिक कर्मकाण्ड (पुरश्चरण आदि) की कोई आवश्यकता नहीं है । श्रीकृष्ण नाम ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है और केवल रसना (जीभ) के द्वारा उच्चारण करने पर ही फल प्रदान करने वाला है ।

विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्या विनैव हि ।

विनैव न्यास विधिना जपमात्रेण सिद्धिः ॥

बिना दीक्षा के, बिना पूजार्चन और बिना न्यास के केवल जप करने से ही श्रीकृष्णनाम सिद्धि देने वाला है ।

यहाँ तक कि मन्त्र, अनुष्ठान-पद्धति, देश, काल, पात्र व वस्तु-पदार्थ इत्यादि में हुई सभी प्रकार की गलतियों को श्रीभगवन्नाम संकीर्तन सुधार देता है –

मन्त्रतस्तन्त्रशिछद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।

सर्वं करोति निशिछद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥

(श्रीभागवतजी ८/२३/१६)

उपरोक्त इन वैष्णव-शास्त्रों के प्रमाणानुसार आधुनिक धर्माचार्यों और उनके अनुयायियों द्वारा जनसाधारण के समक्ष प्रबल रूप से व्यक्त किया गया जाने वाला यह मत कि गुरु द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा ही कल्याण का एकमात्र साधन है और इसके अभाव में किया जाने वाला भजन अर्थात् नाम जप और कीर्तन के द्वारा कोई फल नहीं मिलता, इससे कोई आध्यात्मिक सिद्धि नहीं होती –

पूर्णतया अशास्त्रीय और साधारण जनता को दिग्भ्रमित करने वाला है । गुरुदीक्षा के समर्थन में कहे जाने वाले ऐसे वाक्यों से भ्रमित होकर लोग शास्त्रों द्वारा बारम्बार कलियुग में कल्याण के एकमात्र साधन नामजप और नाम कीर्तन की महिमा की गर्जना किये जाने पर भी इस सर्वश्रेष्ठ साधन को फलदायक न समझकर किसी गुरु के द्वारा मन्त्र-दीक्षा लेने के लिए भटकते रहते हैं और बहुधा ऐसा देखने में आता है कि गुरु के रूप में दीक्षा देने वाले महानुभावों के द्वारा समाज का हित होने की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है । विशाल जनसमुदाय को गुरुदीक्षा देने वाले कितने ही आधुनिक गुरु तो अनेकों गम्भीर आरोपों से घिरकर आज देश के विभिन्न कारागारों में बंद हैं । जो लोग प्रामाणिक वैष्णव सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा में ही गुरुदीक्षा लेने के प्रबल पक्षपाती हैं, उनके यहाँ भी बहुधा बहुत से शास्त्र विरुद्ध आचरण किये जाते हैं तथा भोग और ऐश्वर्य का प्रचुर मात्रा में वहाँ प्राधान्य देखने में आता है । कई बार ऐसा देखने में आता है कि उनके आश्रमों-मन्दिरों में धनी लोगों को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है और सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी निर्धन वर्ग के लोगों की उपेक्षा की जाती है । इसीलिए लोगों को सावधान करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है –

हरइ सिष्य धन सोक न हरई ।

सो गुरु घोर नरक महुँ परई ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ९९)

जो गुरु केवल स्वार्थवश शिष्य के धन का तो उपभोग कर लेता है परन्तु उसके अज्ञानजनित शोक का विनाश कर उसका कल्याण नहीं करता, ऐसा लोभी गुरु घोर नरकगामी होता है ।

भगवान् को देख करके प्यार नहीं किया जाता, भगवान् को सुनकर प्रेम किया जाता है ।

त्वं भावयोग.....प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ (श्रीभागवतजी ३/९/११)

इस दुनियाँ में तो आँखों से देखा जाता है परन्तु उस दुनियाँ में कानों से देखा जाता है । श्यामसुन्दर की जो प्रेम की डगरियाँ हैं वह आँखों से नहीं दिखायी देती बल्कि सुनकर उस रास्ते पर चला जाता है, सुनना सीखो, हर क्षण उनके गुणों को सुनो, अपने-आप तुमको उनका रास्ता मिल जायेगा । रास्ता ही नहीं वे खुद ही आकर तुम्हारे पास बैठ जायेंगे । प्रभु ने कहा था कि “मैं बैकुण्ठ में नहीं रहता, जहाँ हमारे भक्त लोग बड़े स्नेह से गाते हैं, बस मैं तो वहीं पड़ा रहता हूँ ।” सब के सब क्लेश केवल एक श्रवणमात्र से ही नष्ट हो जाते हैं और भक्ति की सहज में ही प्राप्ति हो जाती है ।

दीक्षा का फल 'सत्संगमय जीवन'

यह भी जानना बहुत अधिक आवश्यक है कि दीक्षा-गुरु से अधिक महत्त्व शिक्षा-गुरु का होता है। किसी व्यक्ति ने अपनी आस्था के अनुसार किसी गुरु विशेष से मन्त्र-दीक्षा तो ले ली किन्तु भक्ति की महिमा, भगवान् के नाम, धाम और उनके भक्तों की महिमा का ज्ञान तथा भक्ति मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के विकार, अनर्थ और अपराध, जिन्हें निम्बार्काचार्य जी ने विरोधी तत्त्व कहा है, इनसे किस प्रकार बचते हुए अपने साधन में दृढ़ता और सावधानीपूर्वक चला जाये, इसके लिए गुरु द्वारा गम्भीर उद्बोधन की आवश्यकता होती है। अगर शिष्य को अपनी साधना के स्वरूप, उसके महत्त्व और साधन पथ में आने वाले बाधक तत्वों से बचने के बारे में गुरु से शिक्षा प्राप्त नहीं होती है तो मात्र मन्त्र दीक्षा से उसका कल्याण नहीं होने वाला। सत्संग के द्वारा अनर्थों और अपराधों से बचते हुए भक्ति मार्ग में अग्रसर होने के सम्बन्ध में सद्गुरु के द्वारा निरन्तर विवेक की प्राप्ति होती रहे, यह मन्त्र दीक्षा से बढ़कर है परन्तु केवल मन्त्र दीक्षा ग्रहण कर ली और सद्गुरु के सतत सत्संग के द्वारा विवेक की प्राप्ति नहीं हुई तो केवल मन्त्र दीक्षा से साधक का कल्याण नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है भक्त शिरोमणि श्रीध्रुवजी का। यह तो सर्वविदित है कि पाँच वर्ष के ध्रुवजी जब अपने पिता महाराज उत्तानपाद की गोद में बैठना चाहते थे तो उनकी विमाता सुरुचि ने उन्हें कर्कश वचनों से मर्माहत करके पिता की गोद में बैठने से रोक दिया था। अपनी विमाता के द्वारा किये गये दुर्व्यवहार से दुखी होकर ध्रुवजी रोते हुए अपनी माता सुनीति के पास पहुँचे तो उन्होंने अपने इस पाँच वर्ष के बालक को भगवान् की शरण में जाकर उनकी आराधना करने की प्रेरणा दी और इसके लिए उन्हें बाल्यावस्था में ही घोर वन में भेज दिया जबकि ध्रुवजी को इतनी अल्पावस्था में भगवान् की महिमा और उनको प्राप्त करने के लिए की जाने वाली साधना के बारे में कोई ज्ञान नहीं था। परन्तु उनकी प्रबल उत्कण्ठा के कारण भगवत्कृपा से स्वयं देवर्षि नारदजी उनके सामने प्रकट हुए और उनकी मनोदशा को जानकर दिव्य उद्बोधन प्रदान करते हुए कहा –

यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः ।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमुच्छति ॥

(श्रीभागवतजी ४/८/३३)

विधाता के विधान के अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी में चित्त को सन्तुष्ट रखना चाहिए। ऐसा करने वाला मनुष्य मोहमय संसार से पार हो जाता है।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्री समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥

(श्रीभागवतजी ४/८/३४)

मनुष्य को चाहिए कि अपने से अधिक गुणवान व्यक्ति को देखकर प्रसन्न हो, जो कम गुणवाला हो, उस पर दया करे और जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रता का भाव रखे; ऐसा करने से उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते।

देवर्षि नारद की वाणी को सुनकर ध्रुवजी ने कहा –

‘भगवन् ! सुख-दुःख से जिनका चित्त चंचल हो जाता है, उन लोगों के लिए आपने कृपा करके शान्ति का यह बहुत अच्छा उपाय बतलाया। परन्तु मुझे जैसे अज्ञानियों की दृष्टि यहाँ तक नहीं पहुँच पाती। इसके अतिरिक्त, मुझे घोर क्षत्रिय स्वभाव प्राप्त हुआ है, अतः मुझमें विनय का प्रायः अभाव है। सुरुचि ने अपने कटुवचनरूपी वाणों से मेरे हृदय को विदीर्ण कर डाला है, इसलिए उसमें आपका यह उपदेश ठहर नहीं पा रहा है। मैं तो उस पद पर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकी में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप-दादा और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं। आप मुझे उसी की प्राप्ति का कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइए।’ ध्रुवजी की ऐसी उत्कट लालसा की पूर्ति के लिए तब नारदजी ने कहा कि जिस मनुष्य को अपने लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ की अभिलाषा हो, उसके लिए इनकी प्राप्ति का उपाय एकमात्र श्रीहरि के चरणों का सेवन ही है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुम यमुनाजी के तटवर्ती, श्रीहरि के निवासस्थल मधुवन में जाकर उनकी आराधना करो।

ऐसा कहकर फिर नारदजी ने ध्रुवजी को भगवान् के रूप का ध्यान करने की विधि बताई और इसके साथ ही ‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’ नामक द्वादशाक्षर मन्त्र की दीक्षा

प्रदान की। ध्रुवजी नारदजी की आज्ञानुसार मधुवन पहुँचे और वहाँ गुरुदेव की बताई हुई विधि के अनुसार कठोर तपश्चर्या करते हुए भगवान् के रूप के ध्यान और द्वादशाक्षर मन्त्र के जप में पूर्ण मनोयोग के साथ तत्पर हो गये। छः महीने में ही भगवान् ध्रुवजी के इस दुष्कर तप से प्रसन्न हो गये और मधुवन में उनके नेत्रों के समक्ष प्रकट हो गये। ध्रुवजी ने जिस लक्ष्य के साथ तीव्र भक्तियोग के साथ भगवान् की आराधना की थी, उनके उस मनोरथ को पूर्ण करते हुए भगवान् ने उन्हें वरदान देते हुए कहा –

‘वत्स ! मैं तेरे हृदय का संकल्प जानता हूँ। तू जिस पद को पाना चाहता है, उसकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है, तो भी मैं तुझे वह अविनाशी लोक देता हूँ।’

ध्रुवजी की अभिलाषानुसार अविनाशी सर्वोत्तम लोक की प्राप्ति का वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

श्रीमद्भागवत के अनुसार विदुरजी को ध्रुव-चरित्र सुनाते हुए मैत्रेय मुनि ने बताया कि भगवत्कृपा से अपनी मनोवाञ्छित वस्तु के प्राप्त होने का वरदान पाकर भी ध्रुवजी का चित्त विशेष प्रसन्न नहीं हुआ। इस बात को सुनकर विदुरजी ने अत्यन्त आश्चर्यसहित मैत्रेयजी से प्रश्न किया कि श्रीभगवान् का परमपद तो अत्यन्त दुर्लभ है, फिर एक ही जन्म में उसको पा लेने पर भी ध्रुवजी ने अपने को अकृतार्थ (अपूर्ण) क्यों समझा? उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए मैत्रेय मुनि ने बताया कि ध्रुवजी का हृदय अपनी सौतेली माता के कटु वचनों से इस तरह आहत हो चुका था कि भगवान् से वर माँगने के समय भी उन्हें उसका स्मरण बना हुआ था, इसी से उन्होंने मुक्तिदाता श्रीहरि से मुक्ति नहीं माँगी किन्तु अब जब भगवद्दर्शन से वह मन का संताप दूर हो गया तो उन्हें अपनी इस भूल के लिए बहुत पश्चात्ताप हुआ और वे मन ही मन कहने लगे कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि भी जिन्हें समाधि के द्वारा अनेकों जन्मों में प्राप्त कर पाते हैं, उन भगवच्चरणों की छाया को मैंने छः महीने में ही पा लिया परन्तु चित्त में दूसरी वासना रहने के कारण मैं फिर उनसे दूर हो गया। मुझ मन्दभाग्य की कैसी मूर्खता है कि संसार पाश को काटने वाले प्रभु के देवदुर्लभ चरणकमलों में पहुँचकर भी मैंने उनसे नाशवान वस्तु की ही याचना की।

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः ।

यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥

(श्रीभागवतजी ४/९/३२)

ये देवता पतनशील हैं, इन्हें स्वर्ग के दुर्लभ विषयों को भोगने के पश्चात् फिर नीचे गिरना होता है, इसलिए वे मेरी भगवत्प्राप्तिरूप उच्च स्थिति को सहन नहीं कर सके, अतः उन्होंने मेरी बुद्धि को नष्ट कर दिया। तभी तो मैंने अपने हठ के कारण नारदजी की यथार्थ बात भी स्वीकार नहीं की। जिन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है, उन्हीं भगवान् श्रीहरि को तपस्या द्वारा प्रसन्न करके मैंने उनसे जो कुछ माँगा है, वह सब व्यर्थ है। जिस प्रकार कोई अत्यन्त दरिद्र कंगाल किसी चक्रवर्ती सम्राट को प्रसन्न करके उससे तुच्छ चावलों के कण माँगे, उसी प्रकार मैंने भी आत्मानन्द प्रदान करने वाले श्रीहरि से मूर्खतावश व्यर्थ का अभिमान बढ़ाने वाले उच्च पदादि ही माँगे हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ में ही नारदजी द्वारा ध्रुवजी को आत्मकल्याण का जो उपदेश दिया गया था, उसे न स्वीकार करने के कारण, छः महीने में ही भगवत्प्राप्ति करने के बावजूद भी ध्रुवजी को बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपने को कृतार्थ नहीं समझा। नारदजी की शिक्षा को न स्वीकार कर उन्होंने सुरुचि के अपमान से व्यथित होकर उनसे उस पद को पाने का उपाय पूछा, जिसको उनके पुरखे भी कभी प्राप्त नहीं कर सके, तब नारदजी ने उन्हें भगवान् की उपासना की विधि बताते हुए द्वादशाक्षर मन्त्र की दीक्षा प्रदान की, जिससे अपनी मनोकामना की पूर्ति होने पर भी उन्हें असंतोष रहा। परन्तु देवर्षि द्वारा दी हुई शिक्षा को सम्राट बनने पर ध्रुवजी को अपने पितामह के सदुपदेश से स्वीकार करना पड़ा। एक बार ध्रुवजी के सौतेले भाई उत्तम को शिकार खेलते समय हिमालय पर्वत पर एक बलवान यक्ष ने मार डाला। भाई के मारे जाने का समाचार सुनकर शोक और क्रोध से भरकर ध्रुवजी ने यक्षों के देश पर चढ़ाई कर दी और फिर उनका यक्षों के साथ भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में ध्रुवजी ने अनेकों निरपराध यक्षों का वध कर दिया। उनके पितामह स्वायम्भुव मनु ने जब यह देखा तो उन्हें यक्षों पर बहुत दया आई और उन्होंने ध्रुवजी के पास जाकर उन्हें समझाया –

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।

समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥

(श्रीभागवतजी ४/११/१३)

सर्वात्मा श्रीहरि तो अपने से बड़े पुरुषों के प्रति सहनशीलता, छोटों के प्रति दया, बराबर वालों के साथ मित्रता और समस्त जीवों के साथ समता का बर्ताव करने से ही प्रसन्न होते हैं ।

मनुजी के द्वारा समझाए जाने पर ध्रुवजी ने यक्षों के प्रति क्रोध का त्याग कर दिया और वे उनके वध से निवृत्त हो गये । उनके इस कृत्य से यक्षों के स्वामी और भगवान् शंकर के सखा कुबेरजी प्रसन्न होकर ध्रुवजी के पास आये और उनसे बोले –

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।

यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥

(श्रीभागवतजी ४/१२/२)

“हे क्षत्रिय कुमार ! तुमने अपने पितामह के उपदेश से दुस्त्यज वैर का त्याग कर दिया, इस कारण मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ ।” ऐसा कहकर कुबेरजी ने ध्रुव से वर माँगने को कहा तो उन्होंने यह वर माँगा –

हरौ स वब्रेऽचलितां स्मृतिं यया

तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ।

(श्रीभागवतजी ४/१२/८)

मुझे श्रीहरि की अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसारसागर को पार कर जाता है । कुबेरजी ने प्रसन्नता के साथ ध्रुवजी को अखण्ड भगवत्स्मृति प्रदान की । ऐसा होने पर ध्रुवजी के मन से सदा के लिए राग-द्वेष का कालुष्य दूर हो गया, जो कि छः वर्ष की अल्पावस्था में साक्षात् भगवद्दर्शन होने पर भी दूर नहीं हो सका था और इस कारण उन्होंने अपने को अकृतार्थ ही समझा था परन्तु कुबेरजी के वरदान से इस दुर्लभ वर के प्राप्त होने पर द्वेष का नाश हो जाने पर ही उन्होंने अपने को

कृतकृत्य माना । ध्रुवजी के इस चरित्र से हमें इस बात का बोध होता है कि देवर्षि नारद जैसे सद्गुरु की भी यदि हमें प्राप्ति हो जाए और वे राग-द्वेष का उन्मूलन करने वाले भक्ति के मूलभूत सिद्धान्त का यदि हमें उपदेश करें किन्तु हम उनकी इस महत्वपूर्ण शिक्षा की उपेक्षा करके केवल मन्त्र-दीक्षा का हठ करते हुए इसे ही गुरु-दीक्षा व गुरु से प्राप्त होने वाली सर्वश्रेष्ठ वस्तु समझकर ग्रहण कर लेते हैं तो साक्षात् भगवद्दर्शन प्राप्त होने पर भी हमारे मन में राग-द्वेष बने रह सकते हैं और ऐसी स्थिति में हमें भी ध्रुवजी की तरह असंतोष ही रहेगा और हम अकृतार्थ ही बने रहेंगे । श्रीमद्भागवत में वर्णित ध्रुवजी के चरित्र से यह शिक्षा मिलती है कि हमें केवल इस बात का प्रयास नहीं करना चाहिए कि किसी प्रामाणिक परम्परा के अन्तर्गत किसी अधिकृत सम्प्रदाय के गुरु द्वारा हमें विधिवत् दीक्षा मिल जाए, जैसा कि वर्तमानकालीन आध्यात्मिक समाज में विशेष रूप से देखने को मिल रहा है । यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आजकल भारत के साधु-सन्तों और धर्माचार्यों के द्वारा जनसाधारण के समक्ष सर्वत्र इसी बात का प्रचार किया जाता है कि भगवान् की आराधना और उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी प्रामाणिक आचार्य परम्परा में गुरु-दीक्षा ग्रहण करना परमावश्यक है और इसके बिना चाहे कितना भी भजन किया जाये, उसका कोई प्रभाव नहीं होता अर्थात् गुरु-दीक्षा विहीन उपासना से सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् अथवा उनके प्रेम की प्राप्ति असम्भव है । ऊपर व्यक्त किये गये इस सम्पूर्ण लेख में शास्त्र प्रमाण के द्वारा व ध्रुव-चरित्र के माध्यम से किसी विशुद्ध सन्त के ‘सदुपदेश व उनके सत्संग’ को गुरु-दीक्षा से अधिक महत्वपूर्ण बताने का प्रयास किया गया है ।

नामदेवजी से लोग चिढ़ते थे क्योंकि उनका यश बहुत बढ़ गया था । एक बार कुछ चिढ़ने वालों ने उन्हें एक स्थान पर रुका दिया और कहा कि महाराज ! अमुक सरोवर के तट पर निवास कीजिये । वहाँ एक ब्रह्मराक्षस रहता था । नामदेवजी ने उन्हें देखकर अपनी झाँझ निकाली और कीर्तन करके नाचने लगे तथा यह पद गाया – ये आये मेरे लम्बक नाथ । धरती पाँव स्वर्ग लौं माथो, योजन भरि-भरि हो हाथ । सिव सनकादिक पार न पावैं, तैसेइ सखा विराजत साथ । ‘नामदेव’ प्रभु अन्तर्यामी, कीन्यो मोहिं सनाथ ॥ हे लम्बकनाथ ! धरती पर तो तुम्हारा पाँव है और आकाश में मस्तक है । इतना बड़ा तुम्हारा शरीर है । चार कोस लम्बे तुम्हारे हाथ हैं, वैसे ही तुम्हारे सखा भूत-प्रेत हैं । अन्त में नामदेवजी ने कहा – ‘नामदेव पर किरपा कीजै’ यह पद गाकर नामदेवजी नाचने लगे तो ‘भगवान्’ ब्रह्मराक्षस में से प्रकट हो गये ।

सर्वमंगलकारी 'निष्काम संकीर्तन'

ऐसा भी नहीं है कि गुरु के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा का महत्त्व बिलकुल ही नहीं है। मन्त्र-दीक्षा का भी विधान है, जैसा कि चार वैष्णव-सम्प्रदाय के मूल आचार्यों के द्वारा शरणागत भक्तों को गुरु-दीक्षा प्रदान की जाती थी। भक्तमाल में वर्णन है कि श्रीरामानुजाचार्यजी के गुरुदेव ने उन्हें मन्त्र-दीक्षा देते समय आदेश दिया था कि यह परम गोपनीय मन्त्र है, इसे अपने अन्तःकरण में गुप्त रखना, किसी के सामने प्रकट मत करना। गुरु द्वारा प्रदान किये उस मन्त्र के जपने का यह प्रभाव हुआ कि भगवान् ने श्रीरामानुजजी को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। परम दयालु श्रीरामानुजाचार्यजी ने सोचा कि जिस प्रकार मन्त्र जप करके मैंने भगवद्दर्शन पाया, उसी प्रकार सभी लोग भगवान् का दर्शन प्राप्त करें। ऐसा विचारकर उसी समय रात में ही आप मन्दिर के गोपुर द्वार पर चढ़ गये और वहीं से उच्च स्वर में मन्त्र का उच्चारण किया।

जब इनके गुरुदेव को इस बात का पता चला तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और इन्हें बुलाकर अत्यन्त क्रोध में भरकर कहा कि तुमने गुरु-आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिए तुम्हें निश्चय ही नरक में जाना होगा। यह सुनकर रामानुजजी ने बड़ी ही विनम्रतापूर्वक गुरुदेव से कहा कि यदि उच्च स्वर से मन्त्र उच्चारण करने पर उसके श्रवण से अनेक जीव भगवद्धाम को जा सकते हैं तो इसके लिए मैं जन्म-जन्मान्तरों तक नरक में रहने के लिए तैयार हूँ। श्रीरामानुजजी की जीवों के प्रति ऐसी कल्याणमयी भावना को देखकर इनके गुरुदेव का हृदय भाव से भर गया और 'मन्नाथ-मन्नाथ' कहते हुए रामानुजजी को हृदय से लगाकर वे बोले कि जिसके मन में प्राणियों के प्रति ऐसी अपार करुणा है, वे भला कभी नरक में जा सकते हैं।

रामानुजजी के जीवन की इस घटना से यह पता चलता है कि गुरुदेव के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा का भी महत्त्व होता है किन्तु इसके लिए गुरु में शास्त्र प्रतिपादित लक्षण होने चाहिए। वैष्णवशास्त्रों में गुरु के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उनसे युक्त होने पर ही ऐसे सद्गुरु के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा वास्तविक फलदायक होती है। इसके साथ ही यह भी पता चलता है कि यदि

शिष्य के हृदय में जीवों के प्रति अपार करुणा का भाव है तो वह रामानुजजी की तरह अपने मन्त्र-प्रदाता गुरु से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी अपने शरणागतों को मन्त्र-दीक्षा के माध्यम से ब्रह्म-सम्बन्ध कराया करते थे। उन्होंने गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में लीला-गायन के लिए अष्टछाप के वैष्णवों की नियुक्ति की थी। अष्टछाप के इन वैष्णव-कवियों में चार सन्त जैसे सूरदासजी, कुम्भनदासजी, परमानन्ददासजी और कृष्णदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे तथा शेष चार वैष्णव वल्लभाचार्यजी के सुपुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथजी के शिष्य थे। अष्टछाप के इन चारों वैष्णव-कवियों को मन्त्र-दीक्षा प्राप्त होने पर भी वल्लभाचार्यजी ने इन्हें विशेष रूप से श्रीनाथजी के मंदिर में लीलागान की आज्ञा दी थी और ये सन्त अपने सम्पूर्ण जीवन में पद-रचना के द्वारा कृष्ण-चरित्र का गायन करते रहे। वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने नित्य धामगमन के पूर्व अपने सम्प्रदायानुयायियों को भोग और ऐश्वर्य के सेवन अर्थात् इन्द्रियतोषण से स्पष्ट रूप से बचने की आज्ञा दी थी और यह चेतावनी भी दे दी थी कि यदि भगवत्कथा और ठाकुर-सेवा से विमुख होकर वे लोग विषयासक्ति में डूब गये तो काल उन्हें नष्ट कर देगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि श्रीवल्लभाचार्यजी की इस विशेष आज्ञा का पालन न होने के कारण इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में धनी वर्ग का प्रचुर बाहुल्य होने के कारण विषयासक्ति बहुत बढ़ गयी है, साथ ही पूर्व में इस सम्प्रदाय का ब्रज में जैसा प्रभाव देखने को मिलता था, आपसी फूट के कारण वह प्रभाव समाप्त-सा हो गया है जबकि इस सम्प्रदाय में गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र-दीक्षा का विशेष विधान है।

इससे पता चलता है कि विशेष वैष्णव-सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा में दीक्षित होने पर भी यदि मूल आचार्यों की वाणी, उनकी शिक्षा का पालन नहीं किया जाएगा तो केवल गुरु द्वारा प्रदान की गयी दीक्षा से भी लाभ नहीं होने वाला है। इसलिए वैष्णव शास्त्रों के अनुसार गुरु के रूप में केवल विशुद्ध भक्त ही मान्य हैं चाहे वे किसी प्रामाणिक सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा के अन्तर्गत हों अथवा न हों;

इसके साथ ही ऐसे सच्चे भक्त के सत्संग का सतत् लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे सच्चे संतजन चाहे किसी को अपना शिष्य न भी बनायें तब भी केवल उनकी वाणी, उनके सदुपदेश और उनके कीर्तन से ही सारे विश्व का कल्याण होता है। उदाहरण के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु तो स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे और वे एक भक्त के रूप में सारे भारतवर्ष में भ्रमण कर अपने नगर-कीर्तन के माध्यम से मनुष्य तो क्या, पशुओं तक को भगवत्प्रेम का दान किया करते थे। श्रीचैतन्यदेव किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे, किसी को मन्त्र-दीक्षा प्रदान नहीं करते थे, वे तो केवल हरिनाम-संकीर्तन को ही कलियुग में जीवों के कल्याण का एकमात्र साधन बताकर मुक्त हस्त से उसका वितरण करते थे, वे इस श्लोक को बार-बार कहते थे –

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

इस भीषण कलिकाल में केवल 'हरिनाम' ही मनुष्यों के कल्याण का एकमात्र साधन है और हरिनाम के सिवा किसी अन्य साधन को अपनाने से कल्याण नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। शास्त्र के अनुसार कोई बात जब तीन बार कही जाती है तो वह अकाट्य सत्य होती है, उसका किसी प्रकार खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसलिए इस श्लोक में जो नाम की महिमा का त्रिवाचा से उद्घोष किया गया है, इसे चैतन्य महाप्रभुजी बार-बार उद्धृत करते हुए सभी को कृष्णनाम-कीर्तन करने की शिक्षा दिया करते थे। उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि यदि बिना गुरु-दीक्षा के नाम-जप या नाम-कीर्तन करोगे तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, जैसा कि आजकल के अत्यन्त ख्याति-प्राप्त सन्त-महात्मा जनसाधारण के समक्ष घोषणा करते हुए उन्हें बारम्बार गुरुदीक्षा लेने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। भक्तमाल सुमेरु व श्रीरामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ने कभी भी अपने ग्रन्थों में या अपने जीवनकाल में ऐसा नहीं कहा कि कल्याण के लिए गुरुदीक्षा अत्यन्त आवश्यक है, उन्होंने तो रामचरितमानस में सर्वत्र भगवन्नाम की महिमा का ही गायन किया है, जैसे – कलियुग केवल नाम अधारा । सुमिर सुमिर नर उतरहिं पारा ॥

चहुँ जग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ ।

कलि विसेषि नहिं आन उपाऊ ॥

उन्होंने यहाँ तक कह दिया –

नहिं कलि करम न भगति विवेकू ।

राम नाम अवलम्बन एकू ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड – २७)

कलियुग में न तो कर्मयोग से कल्याण हो सकता है, न विवेक से और न ही भक्तिमार्ग पर ही कोई चल सकता है; इस युग में तो केवल 'राम नाम' के आश्रय से ही कल्याण सम्भव है। तुलसीदासजी के अन्तिम समय में संतों ने उनसे कुछ उपदेश देने का अनुरोध किया तो उन्होंने यह कवित्त कहा –

**अल्प तौ अवधि जीव तामें बहु सोच-पोच,
करिबे को बहुत हैं काह काह कीजिये ।**

**पार ना पुरान हूँ को वेद हूँ को अन्त नाही,
बानी तो अनेक चित्त कहाँ-कहाँ दीजिये ॥**

**काव्य की कला अनन्त छन्द को प्रबन्ध बहु,
राग तो रसीले रस कहाँ-कहाँ पीजिये ।**

**लाखन में एक बात तुलसी बताये जात,
जनम जौ सुधारा चाहौ राम-नाम लीजिये ॥**

वेद-पुराण और शास्त्रों के रहस्य को समझना बहुत कठिन है, उनमें कल्याण के बहुत से उपाय बताये गये हैं, ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? लाखों में एक महत्वपूर्ण बात यही है कि यदि अपना मनुष्य-जन्म सुधारना चाहते हो तो एकमात्र 'राम नाम' का आश्रय लो।

इस तरह देखा जाए तो अपने सारे जीवन काल और अन्तिम समय में भी मनुष्यों के कल्याण के लिए गोस्वामीजी ने एकमात्र 'भगवन्नाम जप-कीर्तन' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया, उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि नाम-साधन के साथ गुरु-दीक्षा लेना भी आवश्यक है अथवा गुरुदीक्षा के अभाव में किया जाने वाला भजन लगता नहीं है अर्थात् उससे कोई लाभ नहीं होता है।

ऐसे बहुत से विशुद्ध सन्त होते हैं जो किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते, किसी को गुरु-दीक्षा नहीं देते किन्तु जब भगवान् किसी जीव पर बहुत विशेष कृपा करते हैं तो उसे

विशुद्ध सन्त का संग प्रदान करते हैं । इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है – संत विसुद्ध मिलहिं पुनि तेही ।
चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ६९)

विशुद्ध सन्त के सत्संग से ही जीव के हृदय में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है, चाहे वे किसी को अपना शिष्य भले ही न बनायें । उदाहरण के लिए जब पूज्य श्रीबाबामहाराज लगभग ७० वर्ष पूर्व अपनी जन्मभूमि तीर्थराज प्रयाग से श्रीराधामाधव की लीलाओं से सुशोभित ब्रजभूमि में पधारकर साधनामय जीवन व्यतीत कर रहे थे तो उन्होंने भी गुरु की खोज की । ब्रज में उस समय के बहुत से सन्तों के पास श्रीबाबामहाराज अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गये किन्तु उन्हें उस समय श्रीप्रियाशरणबाबा महाराजजी के त्याग-वैराग्यमय एवं भजन परायण जीवन तथा उनकी ब्रज और ब्रजवासियों के प्रति अगाध निष्ठा को देखकर उन्हीं को अपने गुरुदेव के रूप में वरण करने की तीव्र अभिलाषा जागृत हुई । परन्तु श्रीप्रियाशरणजी महाराज किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे । श्रीबाबा से उन्होंने कहा था कि तुम ब्रज में किसी भी सुयोग्य सन्त को अपना गुरु बना सकते हो, उस समय श्रीरमेश बाबा महाराजजी ने उनसे यह कहा कि मेरे हृदय में तो आपको ही अपना गुरुदेव बनाने की प्रबल भावना है । उस समय श्रीप्रियाशरणबाबा महाराज ने श्रीबाबामहाराज से कहा था कि मैं तो किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाता हूँ किन्तु यदि तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति भाव है तो ठीक है ... । श्रीप्रियाशरणजीमहाराज को श्रीबाबामहाराज ने हृदय से अपने सद्गुरुदेव के रूप स्वीकार कर लिया और आजीवन उनके बताये सिद्धान्तों का पूर्णरूपेण पालन किया ।

पूज्य श्रीरमेशबाबामहाराज वर्तमानकाल में ब्रज-वसुन्धरा की अत्यन्त अनुपम विभूति हैं । १७ वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होंने अपनी जन्मभूमि का त्यागकर ब्रजभूमि का आश्रय लिया और लगभग ७० वर्षों से वे धाम-धामी की आराधना करते हुए अखण्ड ब्रजवास कर रहे हैं । श्रीबाबामहाराज ने सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में नाम-कीर्तन का प्रचार किया । मान मंदिर से उनके नेतृत्व में संचालित की

गयी ब्रज चौरासी कोस की यात्रा के माध्यम से उन्होंने ब्रज के सभी गाँवों में ब्रजवासियों को अधिक से अधिक लोगों के लाभ के लिए प्रतिदिन प्रभात फेरी करने के लिए जागृत किया । श्रीबाबा के अनुरोध को सभी ब्रजवासियों ने स्वीकार किया और अब सम्पूर्ण ब्रज में प्रातःकाल ब्रजवासी अपने गाँवों में भ्रमण करते हुए प्रभात फेरी करते हैं । श्रीबाबा ने प्रभातफेरी के लिए सभी गाँवों के ब्रजवासियों को निःशुल्क माइक और ढोलक भी वितरित किये हैं । इसी प्रकार श्रीबाबा द्वारा सन् १९८८ में प्रारम्भ की गयी चालीस दिवसीय निःशुल्क ब्रजयात्रा में प्रतिवर्ष देश-विदेश से पंद्रह हजार से भी अधिक ब्रजयात्री सम्मिलित होकर ब्रजभूमि के दिव्यवास और परम रसमयी श्रीब्रजभक्ति का लाभ उठाते हैं । श्रीबाबामहाराज भी किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते हैं किन्तु उनके द्वारा मनुष्यों के कल्याण के लिए चलाये गये कार्यक्रमों और उनके परम दिव्य सत्संग के द्वारा असंख्य लोगों को ब्रजभक्ति और अखण्ड ब्रजवास का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ है । श्रीबाबा महाराज के द्वारा धाम-सेवा के अभूतपूर्व कार्यों में ब्रज के अनेकों कुण्डों का जीर्णोद्धार किया गया है । खनन-माफियाओं के द्वारा बर्बरतापूर्वक नष्ट किये जा रहे ब्रज के पर्वतों का संरक्षण किया गया है । श्रीराधारानी के करकमलों द्वारा निर्मित बरसाने के प्रसिद्ध गह्वरवन का संरक्षण तथा अन्य वनों के संरक्षण एवं वृक्षारोपण के कार्यक्रम द्वारा ब्रज की वन-सम्पदा के विकास का विशेष कार्य किया गया है । इसी के साथ ही यमुना-आन्दोलन के द्वारा श्रीबाबामहाराज के द्वारा ब्रज में लुप्त हो चुकी यमुनाजी को ब्रज में लाने का प्रयास किया गया है । इसी प्रकार बरसाना में माताजी गौशाला की स्थापना के द्वारा लगभग सत्तर हजार गौवंश के पालन और उनके संरक्षण का भी अत्यधिक प्रशंसनीय कार्य पूज्यश्री के द्वारा किया गया है । श्रीबाबामहाराज अपने पास एक भी पैसा नहीं रखते हैं । ७० वर्ष से अखण्ड ब्रजवास करते हुए बाबाश्री धन के संग्रह से बिलकुल दूर रहते हैं । मानमन्दिर से ब्रज-सेवा, गौ-सेवा और समाज-कल्याण के जितने भी बड़े-बड़े कार्य किये गये हैं, उनके लिए किसी से भी कभी धन की याचना नहीं की गयी और फिर भी सभी कार्य सुचारु रूप

से 'श्रीआराधना-शक्ति' से सम्पन्न होते रहते हैं । श्रीबाबामहाराज कहते हैं कि सृष्टि में 'आराधना-शक्ति' ही सबसे बड़ी शक्ति है, जिससे असम्भव कार्य भी सहज सम्भव हो जाते हैं ।

पूज्य श्रीबाबामहाराज यद्यपि किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते हैं किन्तु उनके अत्यन्त अलौकिक गुणों के कारण वे वास्तविक सद्गुरु के रूप में ग्रहण करने योग्य हैं ।

वस्तुतः यह बहुत ही आधारहीन और अशास्त्रीय मत है कि समस्त सद्गुणों से सम्पन्न होने पर भी गुरु-दीक्षा न देने के

कारण किसी विशुद्ध सन्त को गुरु के रूप में न ग्रहण किया जाए । वास्तव में देखा जाए तो एक सच्चे सद्गुरु के सारे लक्षण श्रीबाबामहाराज में विद्यमान हैं, इसलिए सभी को बिना किसी संकोच के उन्हें अपने सद्गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए । हालाँकि श्रीबाबा कभी किसी को ऐसी सलाह नहीं देते कि मुझे गुरु मानो, वे तो सभी से यही कहते हैं कि आजकल का जैसा दूषित वातावरण है, ऐसे कठिन समय में सभी को भगवान् को ही एकमात्र अपना गुरु मानना चाहिए ।

साक्षात् श्रीकृपा-स्वरूप 'श्रीसद्गुरुदेव'

बाबाश्री के सत्संग (१९/७/२०१६) से संकलित

व्यास-पूर्णिमा (गुरु-पूर्णिमा) का दिन बहुत महत्वपूर्ण होता है । भारतवर्ष के लोग इस शुभ दिन अपने गुरुस्थान पर जाकर अपने गुरुदेव की पूजा-आराधना करते हैं ।

श्रीगुरु-महिमान्वित दोहे

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक ।
इनके पद वंदन किए नासहिं विघ्न अनेक ॥१॥
भक्ति दान मोहि दीजिए, गुरु देवन के देव ।
और कछु नहिं चाहिए, निशिदिन तुम्हरी सेव ॥२॥
गुरु बड़े गोविन्द से, रे मन समझ विचार ।
हरि भजें सो पार है, गुरु भजें तो पार ॥३॥
हरि लीला गुरु जौहरी, व्यासहिं दियौ बताय ।
तन मन आनंद सुख मिले, नाम लेत दुःख जाय ॥४॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान ।
सीस दिए सद्गुरु मिले, तौ भी सस्ता जान ॥५॥
हरि सेवा सोलह बरष, गुरु सेवा फल चार ।
तौ भी नाहिं बराबरी, वेदन कियौ विचार ॥६॥
कोटि-कोटि तीरथ करूँ, कोटि-कोटि करूँ दान ।
जब लौ सन्त न सेइए, तब लौ कच्चा काम ॥७॥
तीरथ जायें एक फल, संत मिलें फल चार ।
सद्गुरु मिलें अनेक फल, कहत कबीर विचार ॥८॥
मानुष तन गुरुदेव कौ, कबहुँ न मन में आन ।
श्रीगुरु के निन्दा बचन, कबहुँ मान नहिं आन ॥९॥
गुरु-निन्दक को कभी, मुख न देखिए भूल ।
गुरु-निन्दा जहाँ होत है, कबहुँ न जैये भूल ॥१०॥

गुरु-चरन चित लाइये, करिए अति सन्मान ।
बिरही बिन गुरु-कृपा के, मिलहिं न राधेरानी ॥११॥
काल कठिन कलि कुटिल अति, जीव मगन भयौ सोय ।
बिरही गुरु हरिजन मिलें, मिले मुक्ति भवरोग ॥१२॥
आजकल का युग ऐसा है, जिसमें सद्गुरु का मिलना अत्यन्त कठिन है; श्रीभगवान् की विशेष कृपा से ही सच्चे संत-गुरुजन मिलते हैं, जिनके सत्संग से सहज ही भव-बंधन से मुक्त हो जाते हैं व श्रीभक्तिरस की प्राप्ति हो जाती है । भगवान् शंकर ने मार्कण्डेय मुनि को देखकर पार्वतीजी से कहा कि देखो, सामने सच्चे देवता (संत) बैठे हुए हैं, जो परम पवित्र करने वाले वास्तविक तीर्थ स्वरूप हैं, इनका दर्शन करो । महादेवजी बोले –
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्जिताः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥
(श्रीभागवतजी १२/१०/२३)
'जलमय तीर्थ' तीर्थ नहीं हैं । 'चेतना से रहित मूर्तियाँ' चाहे सोने की हैं, चाहे पत्थर की हैं, वे देवता नहीं हैं । इनकी पूजा से क्या मिलेगा ? न जाने कितने जन्म व्यतीत हो जायेंगे । बहुत जन्मों के पश्चात् ये मूर्तियाँ और तीर्थ पवित्र करेंगे । किन्तु भगवान् के भक्त तो दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देते हैं । यही बात भागवत के प्रारम्भ में ही कह दी गयी है – यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥

(श्रीभागवतजी १/१/१५)

जिनके हृदय में भगवान् का आश्रय है । हृदय में भगवान् नहीं बल्कि भगवान् का आश्रय है, ऐसा आश्रय नहीं है जैसे हम लोग अपने को भगवान् का दास बताते हैं जबकि हैं पैसे के दास । पैसे के लिए हम साधु लोग सेठों का आश्रय लेते हैं । उपरोक्त श्लोक में उन शुद्ध भक्तों के बारे में कहा गया है जिन्होंने एकमात्र भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लिया है । 'यत्पादसंश्रयाः' माने भगवदाश्रित भक्त, वे मुनि हैं, उनका लक्षण क्या है ? उनका लक्षण है – 'प्रशामायन' अर्थात् शान्त है जिनका मन । जिस मन में न काम है, न क्रोध है, न लोभ है । जिसमें कोई भी लहर नहीं है, उसे प्रशम कहते हैं । ऐसे जो भक्त हैं, वे उसी समय पवित्र कर देते हैं । 'सद्यः' उनके दर्शन करते ही पवित्रता आ जाएगी । 'स्वर्धुनी' गंगा, 'आपः' पानी, 'अनु' बार-बार, 'सेवया' सेवन करने से । गंगा-जल में जब बार-बार नहाओगे, बहुत दिनों तक स्नान करोगे तब वह पवित्र करेगा । किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त का तो केवल दर्शन कर लो, इतने से ही तुम्हारे पाप घट जायेंगे –

संत दरस जिमि पातक टरई ।

(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड – १७)

भगवान् ने भागवत में कहा है – (श्रीभागवतजी १०/१०/४१)
ऐसे भक्त का यदि दर्शन भी हो जाए तो भवसागर समाप्त हो जायेगा, फिर यदि उनका सत्संग मिल जाए तो उसका क्या कहना ? जैसे आँख के सामने सूर्य की रोशनी आती है तो अँधेरा दूर हो जाता है और सब कुछ दिखाई देने लगता है । ऐसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि कोई ध्यान करने की, भजन करने की जरूरत नहीं है; अच्छे भक्त का दर्शन कर लो, उससे ही तुम्हारे अनन्त पाप इस प्रकार जल जायेंगे कि पता ही नहीं पड़ेगा । किन्तु समस्या यह है कि अच्छे भक्त दिखाई नहीं पड़ते, अच्छे भक्त मिलते ही नहीं हैं । भारतवर्ष में अनेक लोग गुरु बनकर घूम रहे हैं लेकिन वे घोर भोगी और घोर संग्रही हैं । भोग और संग्रह उत्पथ है । भगवान् कहते हैं कि ये दो चीजें (भोग, ऐश्वर्य) जिसके अन्दर हैं, वह गुरु कैसे हो सकता है ? अभी तो उसका मन ही मुझमें प्रवेश नहीं कर पाया है – “भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत्तचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥” अभी उसकी बुद्धि ही भगवान् में नहीं लगी

है । यदि लगती तो संग्रह क्यों करता ? यदि बुद्धि भगवान् में लगती तो भोग में क्यों डूबता ? बड़ा खुला निर्णय दिया है भगवान् ने । ऐसा व्यक्ति गुरु क्या बनेगा, अभी तो उसकी बुद्धि ही शुद्ध नहीं हुई । ऐसे लोग गुरु बन जाते हैं और कहते हैं – **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।**

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

इस श्लोक में भगवान् तक ने कहा है कि गुरु ही साक्षात् भगवान् हैं । इस श्लोक का नकली लोग दुरुपयोग करते हैं किन्तु वे इस श्लोक को नहीं कहते जो स्कन्दपुराण में व्यासदेवजी द्वारा निर्मित है –

गुरोरप्यवलितस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते ॥

जो गुरु माया में लिप्त है, कार्य-अकार्य को नहीं जानता है, संग्रह करता है, भोग भोगता है, उत्पथ पर चल रहा है, ऐसे गुरु का परित्याग ही कर देना चाहिए; ऐसी आज्ञा भी व्यास भगवान् ने दी है । अब ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करे ? लोग पहले तो गुरु बना लेते हैं और जब सुनते हैं – 'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म' अर्थात् गुरु साक्षात् ब्रह्म हैं; तब फिर वे गुरु का त्याग करने में डरते हैं । वस्तुतः ऐसे उत्पथगामी गुरु का परित्याग ही कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा शास्त्र कह रहा है । यह बात भगवान् के सामने कही गयी है । ऐसा गुरु किसी को मिल जाए तो क्या करना चाहिए, भागवत में इसका रास्ता भी बताया गया है –

(श्रीभागवतजी ८/२४/५०) 'अचक्षुरन्धस्य' इसमें दो शब्द हैं - अचक्षु और अन्ध । 'अचक्षु' माने जिसके पास आँखें ही नहीं हैं और 'अन्ध' माने आँख तो है किन्तु उसमें देखने की शक्ति नहीं है । संसार में ऐसा देखा जाता है कि जिसके पास आँख नहीं है, वह अंधे का गुरु बन जाता है और अंधे के पास आँख है किन्तु उसमें देखने की शक्ति नहीं है । आँख नहीं है फिर भी गुरु बन गया है । गुरु बनकर ये लोग उत्पथ पर जाते हैं, मदिरा पीते हैं, भोग भोगते हैं; ऐसे गुरुओं के हजारों-लाखों चेले बन जाते हैं । 'तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः' 'अविदुष' माने जिसके पास जरा भी विवेक नहीं है । 'अबुध' माने जिसके पास सच्चा ज्ञान नहीं है । ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? क्या कोई रास्ता है ? सत्यव्रतजी कहते हैं कि रास्ता है, 'अर्कदृक्' भगवान् ही 'अर्क' माने प्रकाश तथा

‘दृक्’ माने दृष्टि हैं। दो चीजें होती हैं - एक प्रकाश और एक दृष्टि। आँखें हैं किन्तु उनमें प्रकाश नहीं है तो व्यर्थ है क्योंकि दिखाई नहीं पड़ेगा। आँख भी चाहिए और प्रकाश भी चाहिए। भगवान् में ये दोनों चीजें हैं, भगवान् ही आँख हैं और वे ही प्रकाश हैं। सब दिशाओं, सभी आँखों की ज्योति (समीक्षण) भगवान् हैं। इसलिए सत्यव्रतजी ‘भगवान्’ से कहते हैं - ‘वृतो गुरुर्नः’ आपको हमने अपना गुरु बना लिया। क्यों बनाया, स्वर्गतिं बुभुत्सताम् - ‘बुभुत्सा’ माने जानने की इच्छा। बोधति उच्छा = बुभुत्सा, हम जिज्ञासु हैं, इसलिए तुरन्त ही आपको अपना गुरु बना लेते हैं। अब यह बात हट गयी, जो लोग कहते हैं कि बिना गुरु के, बिना गुरु मन्त्र के भजन करोगे तो भजन नहीं लगेगा, यह बिल्कुल गलत बात है। भजन तो सदा ही लगता है। केवल स्वार्थी लोग ही ऐसी बात करते हैं कि बिना गुरुमन्त्र के भजन नहीं लगता है, ये लोग समाज को उल्टी (विपरीत) बात बताते हैं कि बिना गुरु के भजन नहीं लगेगा। ‘बुभुत्सा’ माने जानने की इच्छा आई और तुम भगवान् को गुरु बना लो, जब तक कोई सद्गुरु नहीं मिले हैं। अगर भगवान् को गुरु नहीं बनाओगे तो ऐसा गुरु मिलेगा - ‘जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिम्’ - जो दुष्ट बुद्धि - भेद बुद्धि अर्थात् मेरा-तेरा का उपदेश करेगा, उससे क्या होगा? ‘यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः’ - इससे तुम और अधिक अन्धकार को प्राप्त हो जाओगे, ऐसे अँधेरे में, दुरत्यय अन्धकार में पहुँच जाओगे, जहाँ से कभी निकल नहीं पाओगे। भक्तों से द्वेष करना सीख जाओगे, भक्तों से द्वेष करोगे। साम्प्रदायिक भेद में क्या होता है? एक-दूसरे के सम्प्रदाय के भक्तों से परस्पर द्वेष किया करते हैं। सत्यव्रतजी भगवान् से कहते हैं कि यदि कोई आपको ही अपना गुरु बनाता है तो ‘त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा’ भगवान् अव्यय ज्ञान देंगे, ‘प्रपद्यते येन जनो निजं पदम्’ उससे अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा; कल्याण हुआ है, जैसे - ध्रुवजी जब घर से चले थे तो क्या उन्होंने कोई गुरु बनाया था, क्या किसी से मन्त्र लिया था? अपने-आप ही भगवान् की प्रेरणा से नारदजी

उनके पास आये। नारदजी ने अपनी कृपा से ध्रुवजी को मन्त्र दिया, इससे उन्हें भगवान् की प्राप्ति हो गयी; ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। धन्ना जाट को भगवान् पहले मिले और उनके गुरुजी को भगवान् बाद में मिले। ‘गोपाल’ नामक एक भक्त बालक था, उसको भगवान् मिल गये किन्तु उसके गुरु को भगवान् नहीं मिले। इसलिए जब तक कोई सद्गुरु नहीं मिलते हैं, तब तक मनुष्य को भगवान् को ही अपना गुरु मानना चाहिए। यह निर्विघ्न मार्ग है और भागवत में इसे कहा गया है। रामायण में भी कई जगह कहा गया है, गीता में कहा गया है। रामायण में भगवान् राम ने कहा है - “गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ सेवा ॥” (श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड - १६) भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि माता-पिता मुझे मानो। किसी और को माता-पिता मानोगे तो वे तुम्हारा विवाह कराके तुम्हें संसार में फँसायेंगे। भगवान् कह रहे हैं कि पति मुझे मानो। संसारी पति तो तुम्हें केवल भोग सिखायेगा। इसलिए सब कुछ मुझे मान लो। यही बात फिर महादेवजी ने भी कही है - “उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥” (श्रीरामचरितमानसजी, किष्किन्धाकाण्ड - १२) हे भगवती! भगवान् के समान हित न गुरु कर सकता है, न पिता कर सकता है, न पति कर सकता है। जो हित भगवान् करते हैं, ऐसा हित गुरु आदि कोई नहीं कर सकते हैं। श्रीमद्भागवत में राजा सत्यव्रत कहते हैं कि एक नहीं, दस हजार, एक लाख गुरु मिलकर भी भगवान् की कृपा की बराबरी नहीं कर सकते - (श्रीभागवतजी ८/२४/४९) गुरुवः - गुरुओं की फ़ौज भी यदि इकट्ठी हो जाये, सारे देवता आ जायें, समेताः - सारी सृष्टि के गुरु और देवता इकट्ठा मिलकर आ जाएँ, फिर भी भगवान् की कृपा के अयुत - दस हजारवें हिस्से का भी हिस्सा ये नहीं पा सकते। अतएव हे भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ। इसीलिए स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया था। उन्होंने संसार के प्राणियों को यही शिक्षा दी कि तुम सबसे छोटे बनो, ऐसा करने से भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी।

प्रह्लादजी भगवान् से कहते हैं कि मैं केवल आपके जनों की सेवा करना चाहता हूँ।

नैवोद्विजेपरदुरत्ययवैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्रचित्तः। शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भरमुद्रहतो विमूढान् ॥
(श्रीभागवतजी ७/९/४३) मैं इस भवसागर से नहीं घबराता हूँ क्योंकि आपके गुणगान को मैं गा रहा हूँ तो फिर भवसागर से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। होगा काल कोई शक्ति किन्तु आनन्द से भगवन्नाम कीर्तन करते चले जाओ तो काल कुछ भी नहीं है, केवल नाम का आश्रय करते चले जाओ क्योंकि वही सत् वस्तु है, काल की मत सोचो।

श्रीसद्गुरु का सच्चा स्वरूप

“गुरु रौति इति गुरुः” जो अंधकार को नष्ट कर सके, वही हैं सच्चे श्रीगुरुदेव । आजकल कलिकाल के मल ने सभी को घोर तम की ओर अग्रसर कर दिया है । ऐसी स्थिति में गुरुकुलों की परम्परा का निर्वहण असम्भव सा रह गया है, यद्यपि भारतवर्ष में अथवा विदेशों में भी बहुत सारे गुरुकुल चल रहे हैं । गुरुकुल कोई एक शिक्षा-पद्धति मात्र नहीं है कि निश्चित पाठ्यक्रम- ज्ञान के उपरान्त शिष्य उचित शिष्यत्व को प्राप्त हो जाय । बहुधा अंधा अन्धे का गुरु बन जाता है और फिर परिणाम अनन्तकाल तक गर्त में गिरना ही होता है – **गुरु सिष बधिर अंध का लेखा । एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥** (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड -९९)

समस्त कामनाओं से शून्य होकर केवल आत्मदर्शन का लक्ष्य जिनके पास है, वही महापुरुष शिष्यों को आत्मसदृश्य तैयार कर सकते हैं । हमारी सुदृढ ऋषि-परम्परा इसी आधार पर बनी थी । देवगुरु ब्रह्मस्पति के पुत्र कच ने संजीवनी विद्या तो प्राप्त किया गुरु से परन्तु अपने ऊपर आसक्त गुरु-पुत्री के प्रबल अनुरोध को इन्होंने स्वीकार नहीं किया चाहे इसके लिए कितनी ही बार जीवन-समाप्ति जैसे कष्टों को ही क्यों न सहना पड़ा । ऐसे अनेक आदर्श हैं जो इस परम्परा के उत्कर्ष को अभिव्यक्त करते हैं । “सा विद्या या विमुक्तये” विद्या वही है जो हमें अनादिकाल के जन्म-मरण की कठोरतम यातनाओं से बचा सके । श्रीनारदजी ने कहा है –

“यत्सा विद्या तन्मतिर्यया” (श्रीमद्भागवत ४/२९/४९)

वास्तविक विद्या वही है, जिससे भगवान् में बुद्धि लग जाए । इसलिए जिस प्रकार भगवान् के चरणों की शरण मिल जाए, वही मार्ग उचित है । इसके बाद प्रश्न है कि गुरु सही है अथवा गलत है, इसकी पहचान क्या है ? तो नारद जी ने बताया – **स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि । इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥** (श्रीमद्भागवत ४/२९/५१) गुरु शिक्षित है अथवा अशिक्षित है, इसका कोई महत्व नहीं है । गुरु वही है जो केवल इतना जानता है कि भगवान् ही प्रियतम है और उसके रास्ते पर चलने में कोई भय नहीं है, जो यह जानता है वही सच्चा विद्वान् है तथा वही वास्तविक गुरु व भगवान् है । हम लोग

गुरु नहीं हो सकते क्योंकि हम भगवान् को प्रियतम नहीं मानते हैं, धन और भोग को प्रियतम मानते हैं । गुरु तो वही है जो केवल भगवान् को प्रियतम मानता है क्योंकि वहाँ कोई भय नहीं है । धन और भोग में भय है । नारदजी ने गुरु चुनने का लक्षण बता दिया, गुरु सही है या गलत इसकी पहचान भी हो गयी ।

जो गुरु करै शिष्य की आस । स्याम भजन ते भया उदास ॥ श्रीभक्तमालजी में एक दोहा है –

गुरु जी लड़ें मुकदमा चेला जोतैं खेत ।

भजन भाव जानैं नहीं पैसन ही सौं हेत ॥

ऐसे लोग गुरु नहीं हो सकते, ऐसे लोगों को गुरु बनाने का मतलब है - पत्थर की नाव पर सवार होकर समुद्र पार करना । एक प्रश्न है कि क्या गुरु आवश्यक है, क्या प्राचीन संतों की वाणियों का आश्रय लेने से भगवान् नहीं मिल सकते ? भागवत में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि जब तक तुमको कोई अच्छा गुरु नहीं मिलता है, तब तक तुम भगवान् को गुरु मान सकते हो, यद्यपि इसका वर्तमानकालीन गुरु लोग खण्डन करते हैं और कहते हैं कि गुरु करना आवश्यक है, उनका कहना भी उचित है परन्तु शास्त्र ये भी कहता है कि तुम भगवान् को भी गुरु मान सकते हो, इसका प्रमाण है भागवत का यह श्लोक -

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नद्धन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः । येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ (श्रीभागवतजी ३/२५/३८)

स्वयं कपिल भगवान् ने कहा है कि जो मुझको ही सब कुछ मान लेता है, वह काल पर विजय प्राप्त कर लेता है । जो मेरा शांत रूप है, जो उसके परायण है (उसमें मन लग गया है जिसका), उसका नाश कभी नहीं हो सकता । और तो क्या, ‘काल’ जो मेरा चक्र है वह भी उसको नहीं चाट सकता, जिसका प्यारा मैं हूँ । हम जैसे लोगों को धन, भोग, स्त्री, पुत्र आदि प्यारे हैं तो हमलोग उस ऊँचाई पर नहीं पहुँच सकते जिसका भगवान् यहाँ वर्णन कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि जिसका एकमात्र मैं ही प्यारा हूँ अर्थात् उसका प्रेम संसार में इधर-उधर नहीं बँटा । मैं ही उसका आत्मा हूँ, मैं ही उसका बेटा हूँ, सखा भी मैं हूँ,

उसका गुरु भी मैं हूँ, उसका सुहृद्, दैव तथा इष्ट भी मैं ही हूँ। इस सत्य सिद्धांत का निरूपण स्वयं भगवान् ने किया है कि तुम उन्हें गुरु मान सकते हो क्योंकि वे स्वयं कह रहे हैं। अब जो भगवान् की भी बात न माने, उससे वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। भगवान् ने रामायण में भी कहा है कि सर्वप्रथम मुझे ही गुरु मानो –
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहि कहँ जानै दृढ सेवा ॥

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड-१६)

कोई नया आराधक है, उसका कोई गुरु नहीं है तो भगवान् कहते हैं कि गुरु मुझे मान लो, पिता, भाई और देवता भी मुझे मान लो, मुझे सब कुछ मान सकते हो। इसके बाद है – दृढ सेवा, मुझे सब कुछ मानने के बाद यदि मनुष्य सेवा अपने शरीर की तथा अपने स्त्री, बच्चों की कर रहा है तो यह ठीक नहीं है, सेवा केवल सेव्य (भगवान्) की होती है। यही बात महादेव भी कहते हैं –

उमा राम सम हित जग माहीं ।

गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥

(रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड - १२)

हे पार्वती ! भगवान् के समान हित कोई नहीं कर सकता। भगवान् राम ने सुग्रीव को राज्य दिया, स्त्री दिया, साथ-साथ भक्ति भी प्रदान की। इसीलिए महादेवजी बोल उठे कि देखो, भगवान् के समान हित संसार में कोई नहीं कर सकता, गुरु भी नहीं कर सकता “गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥” न गुरु हित कर सकता है, न माँ कर सकती है, न पिता कर सकता है, न भाई कर सकता है और न स्वामी हित कर सकता है क्योंकि सबमें स्वार्थ होता है। गुरु में भी यह स्वार्थ होता है कि मेरा शिष्य मेरे ही पास रहे, मेरी ही सेवा करे। यहाँ तक कि गुरु नाराज होकर शिष्य को बहिष्कृत भी कर देता है, ये विकृतियाँ सम्प्रदायों में भी हैं, उनके विरुद्ध जाने पर वे अपने समाज से निकाल देंगे, बहिष्कृत कर देंगे। सुर नर मुनि सब कै यह रीती ।

स्वारथ लागि करहि सब प्रीती ॥

(रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड - १२)

इसी तरह भागवतजी के आठवें स्कन्ध में भी ‘गुरु तत्व’ के बारे में अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है। यहाँ पर हमारे जैसे स्वार्थी गुरुओं का खण्डन हो जाता है –

न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/४९)

सत्यव्रतजी ने कहा है कि कृपा तो भगवान् करता है, उनकी कृपा का दस हजारवाँ हिस्सा भी संसार के सारे देवता और गुरु मिलकर नहीं कर सकते अर्थात् कहीं न कहीं स्वार्थ रहता ही है। ऐसी घटनायें प्रायः होती रहती हैं कि अमुक गुरु ने रुष्ट होकर अपने शिष्य का त्याग कर दिया, अपने सम्प्रदाय से निकाल दिया। प्रश्न है कि ‘गुरु’ शिष्य को निकालता क्यों है? तो इसका उत्तर सत्यव्रतजी ने आगे के श्लोक में दिया है – “अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतस्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः । त्वमर्कटकं सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः स्वर्गार्तिं बुभुत्सताम् ॥” संसार में प्रायः अन्धा अन्धे का गुरु बन जाता है। कोई अन्धा जा रहा था, उसने कहा कि कोई मुझे रास्ता बता दो, इतने में उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह बोला कि मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ, जबकि उसके चेहरे पर आँख का चिन्ह भी नहीं था लेकिन वह गुरु बन गया; अरे, उससे तो दूसरा अन्धा अच्छा है क्योंकि उसके चेहरे पर आँख का चिन्ह तो है। अधिकतर संसार में यही होता है कि हम जैसे आदमी गुरु बन जाते हैं, जो स्वयं मोहान्धकार में हैं और दूसरे को भी ले जाते हैं। इसीलिए सत्यव्रतजी कहते हैं कि ऐसे अन्धे गुरुओं को छोड़कर हम भगवान् को गुरु मानते हैं। इस संसार में नेत्र वाले को दृष्टि (देखने की शक्ति, प्रकाश) भी चाहिए क्योंकि बिना नेत्र-ज्योति के नेत्र वाला कैसे देखेगा? इसलिए भगवान् ही प्रकाश हैं और भगवान् ही नेत्र हैं, उनको गुरु मानने के बाद फिर किसी अन्य गुरु से प्रकाश लेने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हम अपनी वास्तविक गति को जानने के लिए इन नकली गुरुओं (अज्ञान में अंधों) को छोड़कर आपको गुरु मानते हैं अर्थात् हमको अन्यत्र कहीं प्रकाश नहीं मिल सकता है क्योंकि समाज में विवेकहीन लोग अधिक हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् को ही गुरु के रूप में वरण करना चाहिए, यह भागवत का प्रमाण है। इसलिए यदि भाव है तो भगवान् की प्राप्ति अवश्य होगी।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहि मैं जाना ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड - १८५)

यदि भाव नहीं है तो साधु, गुरु आदि कुछ भी बन जाओ फिर भी कुछ नहीं होगा। दण्डकारण्य में लाखों ऋषि थे, गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्णन किया है – “मिलि मुनिवृन्द फिरत दण्डकवन, सो चरचौ न चलाई।” वनवास से अयोध्या लौटने पर भगवान् ने कभी भी अभिमानमय अंतःकरण वाले उन ऋषियों की चर्चा नहीं की।

बारम्बार गीध सबरी की, बरनत प्रीति सुहाई ॥

(तुलसी-विनयपत्रिका - १६५)

जबकि मांसभोजी जटायु और अधम जाति भीलनी शबरी की बारम्बार चर्चा की क्योंकि इनमें विशुद्ध भाव (दैन्यमय, अहंशून्य भाव) था। इसीलिए सैकड़ों यज्ञ करने के बाद राजा प्राचीनबर्हि ने उन यज्ञों को कराने वाले गुरुओं का त्याग कर दिया और नारदजी को गुरु रूप में वरण किया। इससे शिक्षा मिलती है कि यदि वास्तविक गुरु मिल गया है तो नकली गुरु का त्याग कर दो, जब वे सद्गुरु (सच्चे गुरुदेव) ही भगवान् हैं तो फिर सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं है। आजकल तो ‘विद्या’ का तात्पर्य मात्र उदर-पोषण तक सीमित रह गया है, तभी तो – “मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरे सोइ धर्म सिखावहिं ॥”

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - ९९) यद्यपि यह कोई क्लिष्ट कर्म नहीं है, पशु भी यही किया करते हैं। एक बिल्ली अपने बच्चे को चूहे का शिकार करना सिखा देती है। धन-धान्य से सम्पन्न हो जाना, ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेना अथवा बहुत अधिक मान-सम्मान प्राप्त कर लेना किसी विद्या का अविधेय नहीं होता। हमलोग आज भौतिक जगत की चकाचौंध का अंधानुकरण कर रहे हैं और अपने को ही नहीं, जाने कितनों को नरक का रास्ता दिखा रहे हैं, हमारी कुल-परम्परा यह कभी नहीं रही है। जिस भारतभूमि में राम-कृष्ण अवतरित हुए, वहाँ भोग-विलासिता भरी नारकीयता हमें कलंकित करती है। इन सब परिस्थितियों के दिग्दर्शनोपरान्त ब्रज के परमविरक्त संत श्रद्धेय श्रीरमेशबाबाजी, जिन्होंने अपने गत ६५ वर्षों से निरन्तर गुरुकुलीय दृष्टि से ब्रजवासियों का मंगल चाहा, उन्होंने न केवल ब्रज के वन, सरोवर, दिव्य पर्वतों व यमुना महारानी तथा गौमाता के उत्कर्ष को कायम रखने अपितु अपने क्रियात्मक जीवन व वाणी से सभी को आप्लावित करते हुए दिव्य संस्कारों से संस्कारित किया।

भारतीय संस्कृति की संरक्षिका ‘गुरुकुल-प्रणाली’

वेद, पुराण, इतिहास व समस्त शास्त्रों का आधार एवं साररूप परात्पर तत्व परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार कराने वाली पराविद्या को जानने का साधन थी - पुरातन समय में गुरुकुल-पद्धति। युगदृष्टा ऋषियों की परम्परा थी ज्ञान का हस्तांतरण ताकि सनातन संस्कृति की अवधारणा कभी सर्वकालिक समाप्ति तक न पहुँच जाये और उसकी अक्षुण्णता के लिए अपने शिष्यों को जगत की प्रापंचिक स्थिति से दूर रखकर उन्हें समस्त विद्याओं में पारंगत बनाया जा सके। यही कारण था कि जीवनकाल को चार भागों में विभक्त किया गया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। प्रारम्भिक काल के २५ वर्ष गुरुकुल में अध्ययन कर अपने जीवन के या सृष्टि के सूक्ष्म रहस्यों को जाना जा सके और जन्म का फल प्राप्त कर सके, साथ ही इस परम्परा को आगे ले जाया जा सके। गुरुकुल-परम्परा के बहुत से उदाहरण हैं जिन्होंने धर्म, अर्थ, काम,

मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त किया। आरुणी, उद्यालक आदि ने गुरु-कृपा व शिष्य-साधना का अनुपम उदाहरण रखा। प्राचीनकाल में भारत में विद्यार्थियों की शिक्षा तथा उनके जीवन के सर्वांगीण विकास हेतु गुरुकुलों की स्थापना की गयी। इन गुरुकुलों में विरक्त संत-महापुरुष निष्काम भाव से छात्रों को धार्मिक शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे। गुरुकुल का परिवेश भौतिकतावादी जीवन से पूर्णतया मुक्त सर्वथा आध्यात्मिक और त्यागमय था। सनातन धर्म की वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के अंतर्गत ५ से २५ वर्ष की आयु तक मानवजाति के लिए ब्रह्मचर्य युक्त आचरण के साथ गुरुकुल में विद्याध्ययन करना अनिवार्य था। गुरुकुल परम्परा का ही परिणाम था कि प्राचीन भारत में सर्वोच्च स्तर के राजाओं तथा गृहस्थ और विरक्त के रूप में आदर्श नागरिकों और महापुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के कारण ही भारत विश्व में बहुमुखी

प्रतिभा का केंद्र बना रहा और भौतिक तथा आध्यात्मिक समस्त क्षेत्रों में विश्व का सर्वाधिक वैभवशाली और प्रगतिशील राष्ट्र बना रहा। परन्तु कलियुग के आगमन के उपरान्त जब से भारत विदेशी शक्तियों के शासन के आधीन रहा तब से गुरुकुल-परम्परा पर भीषण कुठाराघात किया गया। मुस्लिम आसुरी शासकों तथा उनके पश्चात् भारतीय संस्कृति के शत्रु अंग्रेज शासनाधिकारियों ने सनातन धर्म की इस बहुमूल्य संस्था पर भीषण प्रहार किया। गुरुकुल परम्परा को समूलतः नष्ट करने का कार्य अंग्रेजों के द्वारा ही किया गया। अंग्रेजों ने जब भारत को अपने आधीन किया तो उन्होंने भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन किया। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के कारण भारतीय संस्कृति की अलौकिकता व राष्ट्र की सर्वसमृद्धि को देखकर २ फरवरी सन् १८३५ को तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर जनरल लॉर्ड मैकाले ने ब्रिटेन की संसद के समक्ष निम्नलिखित योजना प्रस्ताव प्रस्तुत किया –

“मैकाले ने कहा - मैं भारत के कोने-कोने में घूमा हूँ और मुझे यहाँ एक भी व्यक्ति ऐसा दिखाई नहीं दिया, जो भिखारी हो, चोर हो। इस देश में मैंने इतनी धन-दौलत देखी है, इतने ऊँचे चारित्रिक आदर्श और इतने गुणवान मनुष्य देखे हैं कि मैं नहीं समझता कि हम कभी इस देश को जीत पायेंगे, जब तक कि उसकी रीढ़ की हड्डी (आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत) को नहीं तोड़ देते हैं। इसलिए मैं प्रस्ताव रखता हूँ कि हम इसकी पुरातन शिक्षा-व्यवस्था (गुरुकुल-प्रणाली) और उसकी संस्कृति को बदल डालें, जिससे वे भारतीय सोचने लगेंगे कि जो भी विदेशी अंग्रेजी सभ्यता से सम्बन्धित है, वह हमसे अच्छी है, पश्चिमी सभ्यता की चीजें हमसे बेहतर हैं; इस तरह की मानसिकता होने पर वे अपने आत्मगौरव व अपनी ही संस्कृति को भुलाने लगेंगे और वैसे ही बन जायेंगे, जैसा हम चाहते हैं - एक पूरी तरह से दमित देश।”

भारतीय रीढ़ की हड्डी उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत को बलवती बनाने वाली 'प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' का समूल विनाश करने के उद्देश्य से मन के काले इस मैकाले के काले योजना प्रस्ताव को ब्रिटिश संसद द्वारा पूर्ण समर्थन मिल गया और फिर इसके स्थान पर पश्चिमी

सभ्यता पर आधारित आधुनिक शिक्षा व्यवस्था भारतीय जनमानस पर कुटिल अंग्रेजों द्वारा थोपी गई और इसमें वे काफी हद तक सफल रहे। अंग्रेजों द्वारा भारत में लागू की गई इसी शिक्षा का परिणाम है कि भारत के लोग अपनी महान आध्यात्मिक संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं और निरन्तर उनका घोर आत्मपतन हो रहा है। वस्तुतः गुरुकुल-परम्परा ही भारतीय संस्कृति-सभ्यता का मूलाधार है। जो विश्वमंगलमूल विशुद्ध भगवद्भक्ति की शिक्षा देते हैं, वही विद्वान, गुरु व भगवान् हैं - (श्रीमद्भागवत ४/२९/५१) सद्गुरुजन ही भक्तिमय शिक्षा देते हैं और अगर शिक्षा-पद्धति ठीक है तो देश का कल्याण है। सच्चा गुरु ही देश का कल्याण कर सकता है। इसका प्रमाण हैं भगवान् राम-कृष्ण भी गुरुकुल के विद्यार्थी बने। भगवान् राम अपने भाइयों के साथ महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में विद्याध्ययन हेतु गए - **गुरुगृहं गए पढन रघुराई।**

अल्प काल विद्या सब पाई ॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड - २०४)

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण भी अपने बड़े भाई बलरामजी के साथ उज्जैन में सांदीपनि मुनि के गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए गए। वहीं सुदामाजी के साथ उनकी मित्रता स्थापित हुई - **अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।**

काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥

(श्रीभागवतजी १०/४५/३१)

गुरुकुल परम्परा इसीलिए है क्योंकि गुरुजनों के द्वारा जब भक्तिमय शिक्षा प्राप्त होती है तो वही देश और समाज का कल्याण करती है। प्रायः आज समाज भगवद्विमुख कराने वाली पाश्चात्य-सभ्यता से प्रभावित दुराचारी छात्रों के दूषण से दूषित होकर दुरत्यय मोहांधकार की ओर अग्रसर है, जहाँ से बाहर निकलना बिना सद्गुरु, संतजनों या भगवान् की कृपा के असंभव ही है। पश्चिमी सभ्यता प्रायः विषयसुख को ही परम प्राप्तव्य मानती है, जबकि हमारे सनातन धर्म की संस्कृति-सभ्यता 'तत्त्व-जिज्ञासा (भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा) ही जीवमात्र का जीवनाधार परम लक्ष्य मानती है -

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(श्रीभागवतजी १/२/१०)

जितनी भी विकृतियाँ हैं, वे सब वर्तमानकालीन छात्रों में पायी जाती हैं, उनका आचरण अशुद्ध होता है क्योंकि उनकी शिक्षा अशुद्ध है। शिक्षक के आचरण में यदि विकृतियाँ हैं तो शिक्षा दूषित हो जाती है। इसीलिए गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली देश के कल्याण में प्रमुख स्थान रखती है। अतः श्रीबाबामहाराज की सत्प्रेरणा से विद्यालयीय आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था भी “राशेश्वरी विद्या मंदिर” के रूप में स्थापित कराई गयी, जिसमें प्रह्लाद सभा जैसे दिव्य कार्यक्रमों द्वारा लोक-परलोक दोनों को उज्ज्वल बनाने का प्रबल प्रयत्न रहा परन्तु सूक्ष्म जगत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को जानने वाले महापुरुष इससे संतुष्ट कैसे होते, उन्होंने कई बार पुरातन परम्परा को अपने यहाँ चलाने का संकल्प ही कर लिया। फिर जिन महापुरुष का प्रत्येक संकल्प अमोघ रहा हो, तो यह पूर्ण क्यों नहीं होता? देश के विभिन्न राज्यों के बच्चे ईश्वर-इच्छा से स्वतः आने लगे। उन बच्चों में दिव्य संस्कारों का संप्रेषण इन अलौकिक दिव्य दृष्टा महापुरुष की अहैतुकी कृपा से शनैः-शनैः होने लगा। मानमंदिर (गह्वरवन) के एक किनारे से इनकी आभा सम्पूर्ण ब्रज तक सूर्य-किरणों की भाँति प्रकाशित होने लगी। प्रभात फेरी में संकीर्तन हो या फिर वैदिक अध्यात्म जगत में प्रवेश। इस सबसे वातावरण दूर-दूर तक सुगन्धित होने लगा। यही कारण रहा कि आज श्रीमानमंदिर पर दिव्य “दीदी जी गुरुकुल” की स्थापना हुई। यह गुरुकुल यद्यपि भौतिकवादियों को भले ही आकर्षित नहीं कर पाये परन्तु

इसके दूरगामी परिणाम सुखद होंगे। व्यक्ति के जीवन में सङ्ग का विशेष महत्त्व होता है। अजामिल जैसे धर्मात्मा पण्डित को कुसंग महापापी बना सकता है तो फिर इस कलिकाल के भयानक ताण्डव से कौन बच पायेगा। कलिमल को भी शमन करने की सामर्थ्य महापुरुषों में या उनके संकल्प में होती है। आज के यही बच्चे आगे चलकर जगत के लिए बड़े ही कल्याणकारी सिद्ध होंगे। गीता, भागवत, रामायण, महाभारत, वेद, पुराण के पठन-पाठन में निरन्तर निमग्न बच्चों का जीवन अलौकिक बनता जा रहा है। वास्तव में आज इस पुरानी गुरुकुल-परम्परा की महती आवश्यकता है। हमारे समस्त संस्कारों का परिमार्जन इसी से सम्भव है। प्राचीन भारत में तक्षशिला और नालन्दा के विश्वविद्यालयों की ख्याति पूरे विश्व में थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय में चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसी विलक्षण विभूतियों ने शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर चाणक्य इसी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध शिक्षक भी बने। भारत को प्रगतिशील बनाने में तक्षशिला के इन दोनों गुरु-शिष्य का बहुत बड़ा योगदान रहा है। तक्षशिला में दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे और उन्हें निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसलिए वास्तविक गुरु की आवश्यकता सदा से रही है परन्तु जब तक सच्चे त्यागी महापुरुष की प्राप्ति न हो, भगवान् को अथवा प्राचीन संत – महापुरुषों को गुरु मानकर सच्ची श्रद्धा व विश्वासपूर्वक उनकी वाणी, उनके द्वारा रचित ग्रंथों का अध्ययन कर भवसागर को पार कर दिव्य धाम-धामी की प्राप्ति की जा सकती है।

‘गुरुतत्व’ का सम्यक् बोध

आध्यात्मिक जगत में ‘गुरु तत्व’ को लेकर प्रायः बहुत सी शंकाएँ लोगों के मन में होती हैं, जिनका यथार्थ समाधान नहीं मिल पाता है, जिससे निर्भ्रान्त चित्त से उपासना नहीं हो पाती है। यह लेख इसी दृष्टिकोण से लिखा जा रहा है ताकि जिज्ञासुओं को इन शंकाओं का शास्त्रसम्मत समुचित समाधान प्राप्त हो सके। शंकाएँ—

१. क्या गुरु बनाना आवश्यक है या फिर भगवान् को गुरु माना जा सकता है? यदि हम किसी को गुरु नहीं बनाते हैं,

भगवान् को ही गुरु मानते हैं तो हमें आध्यात्मिक ज्ञान की कैसे प्राप्ति होगी?

२. अगर हम गुरु दीक्षा नहीं लेते हैं तो फिर हम कौन से मन्त्र का जाप करें और गुरु दीक्षा विहीन क्या मन्त्र फलदायी सिद्ध होगा? क्या कोई ऐसे संत-भक्त का संग करके भगवान् को प्राप्त कर सकता है जो उसका गुरु नहीं है, केवल उसके प्रति एक सम्बन्ध का भाव है?

३. सच्चे सद्गुरु के लक्षण क्या हैं अर्थात् किन लक्षणों से सद्गुरु की पहचान करें?

४. क्या उत्पथगामी (दुराचारी, वैष्णवद्वेषी) गुरु का त्याग किया जा सकता है अर्थात् ऐसे गुरु का त्याग करने में कहीं अपराध तो नहीं होगा, कोई दोष तो नहीं लगेगा ?

.....
प्रथम शंका का समाधान – यद्यपि कहीं-कहीं गुरु करना अत्यंत अनिवार्य बताया गया है किन्तु सच्चे सद्गुरु की प्राप्ति के अभाव में भक्ति-शास्त्रों में भगवान् को भी गुरु रूप में वरण करने की आज्ञा दी गयी है ।

विशुद्ध संत तो गुरु बनने को अन्धकार समझता है, ये गुणावतार ब्रह्मा जी कह रहे कि दुर्जय माया से प्रेरित लोग मुझे जगद्गुरु मानते हैं – तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि । यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।

विमोहिता विकथन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥

(श्रीभागवतजी २/५/१२,१३)

जबकि मायाधीश श्रीकृष्ण ही सबके गुरु हैं इसलिए उनको जगद्गुरु कहा जाता है – वसुदेव सुतं देवं कंस चाणूरमर्दनं । देवकी परमानंदं कृष्णं वंदे जगद्गुरुं ॥ पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । (श्रीगीताजी ११/४३)

‘श्रीकृष्ण ही इस चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं ।’
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥
भगवान् को जो अपना गुरु बना लेता है वह काल से बच जाता है, श्रीमद्भागवत तीसरे स्कंध में कपिल भगवान् ने कहा है – न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे

नङ्घ्नन्ति नो मेऽनिमिषो लेटि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च

सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ (श्रीभागवतजी ३/२५/३८)

श्रीरामचरित मानस में भगवान् राम ने भी यही कहा कि मुझको ही गुरु मान लो – गुरु पितु मात बंधु पति देवा ।

सब मोहि कहँ जानै दृढ सेवा ॥

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड १६)

इसी को सर्वभाव की शरणागति कहते हैं, सारे सम्बन्ध भगवान् से जोड़ लेने चाहिए । भगवान् ने गीता में कहा है – अर्जुन ! तू सर्वभाव से मेरी शरण में आ –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(श्रीगीताजी १८/६२)

जो सर्वभाव से भगवान् की शरण में जाता है, भगवान् आकर के उसके हृदय में विराजमान हो जाते हैं –

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात ।

मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड - १३०)

लक्ष्मण जी की भी भगवान् राम के प्रति ऐसी ही शरणागति थी – गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।

कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड - ७२)

हे नाथ ! "मैं जानता नहीं कि माता, पिता, गुरु क्या होता है? मेरे तो सब कुछ आप ही हैं ।"

भगवान् शंकर ने भी रामचरितमानस में कहा है कि भगवान् जीव का जैसा हित कर सकते हैं वैसा न कोई माता-पिता कर सकता और न ही गुरु – "उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥ सुर नर मुनि सब के यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥

(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्ध्याकाण्ड १२)

माता-पिता, गुरु आदि भी मोह के वशीभूत होकर कुसंग देते हैं । भगवान् से बड़ा हितैषी कोई नहीं है । माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई-बहन, गुरु आदि भी हितैषी का रूप बनाकर जीव को कुसंग देकर उसका सर्वनाश कर देते हैं किन्तु भगवान् कृपा करते हैं और कुसंगियों को असफलता प्रदान कर अपने शरणागत की रक्षा करते हैं ।

गुरु में भी यह स्वार्थ होता है कि मेरा शिष्य मेरे ही पास रहे, मेरी ही सेवा करे । यहाँ तक कि गुरु नाराज होकर शिष्य को बहिष्कृत तक कर देता है, ये विकृतियाँ सम्प्रदायों में भी हैं, उनके विरुद्ध जाने पर वे अपने समाज से निकाल देंगे, बहिष्कृत कर देंगे ।

इसी तरह भागवतजी के आठवें स्कन्ध में भी 'गुरु तत्व' के बारे में अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है । यहाँ पर स्वार्थी गुरुओं का खण्डन हो जाता है –

न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/४९)

सत्यव्रतजी ने कहा है कि कृपा तो भगवान् ही करता है, उनकी कृपा का दस हजारवाँ हिस्सा भी संसार के सारे देवता और गुरु मिलकर नहीं कर सकते अर्थात् कहीं न कहीं स्वार्थ रहता ही है। ऐसी घटनायें प्रायः होती रहती हैं कि अमुक गुरु ने रुष्ट होकर अपने शिष्य का त्याग कर दिया, अपने सम्प्रदाय से निकाल दिया। इसलिए संसार के समस्त गुरु मिलकर भी भगवान् की कृपा का दस हजारवाँ हिस्सा नहीं पा सकते। आगे सत्यव्रत जी कहते हैं कि –

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-

स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ।

त्वमर्कटक सर्वदृशां समीक्षणो

वृतो गुरुर्नः स्वर्गतिं बुभुत्सताम् ॥ (श्रीभागवतजी ८/२४/५०)

इस संसार में अंधे का गुरु अथवा पथप्रदर्शक अंधा बन जाता है अर्थात् मूर्ख का अज्ञानी गुरु बन जाता है और दोनों ही अन्धकार में चले जाते हैं; इसीलिये मैं आपका गुरु रूप में वरण कर रहा हूँ क्योंकि कि आप ही सूर्य हो, आपही दृष्टि हो और सभी दृष्टियों के ईक्षण दृष्टि भी आपही हो। भगवान् ही प्रकाश हैं, भगवान् ही नेत्र हैं, उनको गुरु मानने के बाद फिर किसी अन्य गुरु से प्रकाश लेने की आवश्यकता नहीं है।

(पूज्य बाबा महाराज ने भी श्रीराधारानी को ही अपना गुरु माना है और अपने अनुयायियों को भी यही शिक्षा दी कि सर्वभाव से श्रीराधारानी के शरणागत हो जाओ और उन्हीं को अपना गुरु मान लो, राधारानी ही हम सबकी गुरु हैं, श्रीकृष्ण की भी गुरु हैं, गोपियों की भी गुरु हैं) –

राधिकार प्रेम गुरु आमि शिष्य नट ।

सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट ॥ (श्रीचैतन्यचरितामृत)

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः ।

सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥ (आदिपुराण)

शुकदेव जी ने राधारानी को ही अपना गुरु माना, श्रीमद्भागवत में मंगलाचरण करते हुए श्रीशुकदेव जी ने सबसे पहले अपने गुरु श्रीराधारानी की ही वंदना की

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां

विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा

स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ (श्रीभागवतजी २/४/१४)

अब जो शंका की गयी थी कि यदि हम भगवान् को गुरु बनाते हैं तो हमें आध्यात्मिक ज्ञान कहाँ से प्राप्त होगा, उसके लिये तो कोई न कोई शिक्षागुरु बनाना पड़ेगा तो इस शंका का समाधान यह है कि भगवान् को यदि गुरु मान लगे तो भगवान् ज्ञान भी देंगे और ऐसा ज्ञान देंगे जो संसार का कोई भी शिक्षागुरु नहीं दे सकता है, इसका प्रमाण कई जगह आया है, भगवान् ने गीता जी में कहा है –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (श्रीगीताजी १०/१०)

जो प्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर मेरी उपासना में लगे रहते हैं उन प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझको सहज में प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीमद्भागवत जी में राजा सत्यव्रत जी ने कहा है कि –

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं

यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।

त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा

प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥ (श्रीभागवतजी ८/२४/५१)

ज्यादातर संसार में विवेकहीन लोग गुरु बन जाते हैं, जो समाज में विवेकहीनता का उपदेश करते हैं, संकीर्णता सिखाते हैं कि इतना ही सही है, अन्यत्र सब गलत है, हम ही सही हैं और संसार के लोग गलत हैं। हमने सब समझ लिया, बाकी कोई नहीं समझ सका।

अपने अपने मत मद भूले, करत आपनी भाई।

कहयौ हमारो बहुत करत हैं, बहुतनि में प्रभुताई ॥

मैं समुझी सब काहु न समझी, मैं सबहिन समुझाई ।

भोरे भक्त हुते सब तबके, हमतो बहु चतुराई ॥

हमही अति परिपक्व भये, औरनि कै सबै कचाई । (व्यासजी)

ये सब बातें दुष्ट बुद्धि की हैं, इससे शिष्य दुरत्यय अन्धकार में चला जाता है। 'दुरत्यय' उस अँधेरे को कहते हैं जहाँ से मनुष्य कभी निकल नहीं सकेगा, संकीर्ण-बुद्धि (सांप्रदायिक-द्वेष) होने से भक्तापराध करेगा और पतन की ओर अग्रसर होता जाएगा। इसलिए सत्यव्रतजी भगवान् से कहते हैं कि इससे अच्छा है कि हम आपको गुरु मानें क्योंकि आपको गुरु मानने से आप अमोघ ज्ञान देंगे –

त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥

जिससे हमको भगवच्चरणों की प्राप्ति सहज में हो जायेगी।

ये तो भागवत का प्रमाण था, अब गीता का प्रमाण देखिये – अर्जुन को जब मोह हुआ था तो उन्होंने भगवान् से कहा था – कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ (श्रीगीताजी २/७)

हे प्रभो ! धर्म के सम्बन्ध में मेरा मन सम्मूढ हो गया है, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ, क्या न करूँ, आप ही मुझे उचित मार्ग बताइये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ आप हमारे गुरु बनकर हमारे ऊपर शासन कीजिये क्योंकि मैं आपकी शरण में आया हूँ । फिर अर्जुन को भगवान् ने दिव्य गीता का ज्ञान दिया और उससे उनके मोह का नाश हुआ, शुद्ध स्मृति प्राप्त हुई – नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वप्रसादान्मयाच्युत ।

(श्रीगीताजी १८/७३) अतः इन प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि भगवान् शिक्षागुरु बनकर शिक्षा भी देते हैं, भक्त बिल्वमंगल जी ने 'कृष्णकर्णामृत' में कहा था कि हमारे शिक्षागुरु तो मोरमुकुट धारी श्रीकृष्ण ही हैं –

'शिक्षागुरुश्च भगवाञ्छिखिपिञ्छमौलिः'

प्रेमदञ्च मे कामदञ्च मे, वेदनञ्च मे वैभवञ्च मे ।

जीवनञ्च मे जीवितञ्च मे, दैवतञ्च मे देव नापरम् ॥

हे देव! तुम्ही मेरे प्रेमद हो, तुम्हीं मेरे कामद हो, (गोपीजातीय प्रेमप्रदाता), तुम्हीं मेरे ज्ञानप्रदाता शिक्षागुरु हो; तुम्हीं मेरी अखिल सम्पदा तुम्हीं मेरे जीवन, तुम्हीं मेरे जीवन के हेतु, तुम्हीं मेरे देवता हो, तुम्हें छोड़ मेरा और कोई कुछ नहीं।" इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण को शिक्षागुरु कहा गया है । भगवान् शिक्षा या ज्ञान देकर जीव के हृदयान्धकार को जैसा दूर करते हैं वैसा दुनिया का कोई भी गुरु कर ही नहीं सकता, ये उद्धवजी ने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध में कहा है – नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।

योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति ॥ (श्रीभागवतजी ११/२९/६)

"हे ईश ! आप बाहर आचार्य यानि गुरु रूप से और भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर देहधारियों के हृदयान्धकार को विनष्ट कर रहे हैं और उनके आगे अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देते हैं तब कोई जीव आपको जान पाता है । इसलिए बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मा जी के समान आयु पाकर के भी आपके उपकारों का बदला नहीं चुका

सकते हैं, बस आपके उपकारों का स्मरण करके आनन्द में अधीर होते रहते हैं । अस्तु, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति भगवान् के द्वारा ही होती है, स्वयं ब्रह्मा जी को ज्ञान भगवान् ने ही दिया, ब्रह्मा जी कहीं पढ़ने-लिखने नहीं गए, भगवान् की कृपा से ही उनको बोध प्राप्त हुआ –

**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥**

(श्वेताश्वतर. ६/१८)

'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः'

(श्रीभागवतजी १/१/१/)

गुरु भगवत्त्व का बोध कराता वो ब्रह्मा जी को स्वयं भगवान् ने करा दिया – यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥

(श्रीभागवतजी २/९/३१)

'मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएँ हैं— मेरी कृपा से तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक जान जाओगे ।'

ध्रुव जी को तत्त्व बोध किसने कराया ? भगवान् ने –

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां

संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।

अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्

प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ (श्रीभागवतजी ४/९/६)

द्वितीय शंका का समाधान –

दूसरी शंका थी कि गुरुदीक्षाविहीन मन्त्र फलदायी होता है या नहीं अर्थात् गुरु बनाए बिना भजन लगता है कि नहीं; इसका समाधान यह है कि भगवन्नाम ही एकमात्र सबसे बड़ा मन्त्र है 'एको मन्त्रस्य नामानि' और वह हमेशा फलप्रद होता है, भगवन्नाम लेने में दीक्षा अपेक्षित नहीं है –

दीक्षा पुरश्चर्या विधि अपेक्षा न करे । (श्रीचैतन्यचरितामृत)

नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्या मनागीक्षते

मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥

विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्या विनैव हि ।

विनैव न्यास विधिना जपमात्रेण सिद्धिदः ॥

कृष्णनाम लेने में दीक्षा, पुरश्चर्या आदि की अपेक्षा नहीं है । दीक्षा कहते किसको हैं, पहले उसे समझना चाहिए, दीक्षा

माने केवल इतना ही नहीं कि हमने गुरु बना लिया, मन्त्र ले लिया और हो गयी दीक्षा, दीक्षा की सही परिभाषा है –
दिव्यं भावं यतो दद्यात् क्षिणोति दुरितानि च ।

अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वारम्भ विशारदैः ॥

दिव्य भाव का दान ही दीक्षा है । गुरुदेव दिव्य भावों का दान करते हैं, जिनसे पाप की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है । इन दिव्य भावों के स्थान पर यदि गुरु ने संकीर्ण विचार दे दिये तो समझो विष दे दिया । आजकल भाव के स्थान पर अभाव-दान बहुत हो रहा है । इसलिए दिव्य भाव जिस संत के पास रहने से प्राप्त हो रहे हों, वे भले ही मन्त्र दीक्षा दें या न दें उन्हें ही गुरु मानकर उनके आश्रय में रहना चाहिए –
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - ६९)

ऐसा विशुद्ध संत भले ही मन्त्र दीक्षा न दे, उसे ही गुरु मानलो क्योंकि एक सिद्धांत –

कबिरा संगत साधु की ज्यों गंधी का वास ।

जो कछु गंधी दे नहिं तौ भी बास सुबास ॥

अब जो शंका थी कि मन्त्र दीक्षा नहीं मिली, तब हम किस नाम का जप करें तो इसका उत्तर ब्रह्मा जी भागवत में देते हैं – यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि

नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।

ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा

संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥ (श्रीभागवतजी ३/९/१५)

भगवान् के सभी नामों में बराबर सामर्थ्य है, तुम्हारी जिस नाम के प्रति रुचि हो, जिस नाम को लेने में मन लगता हो उसी नाम का जप करो, तुम्हें वही नाम भगवान् की प्राप्ति करा देगा । ये ब्रह्मा जी स्वयं कह रहे हैं कि भगवान् के अवतार सम्बन्धी नाम- नन्दनन्दन, देवकीनन्दन ...आदि । गुण सम्बन्धी नाम – दीन बंधु, भक्तवत्सल ...आदि । लीला सम्बन्धी नाम – माखन चोर, गिरिधारी....आदि । इनमें से किसी भी नाम का प्राणोत्सर्ग के समय जो मनुष्य उच्चारण करता है वह अनेकानेक जन्मों की संचित अधराशि को छोड़कर अविलम्ब अपावृत सत्य यानि भगवान् को प्राप्त कर लेता है – आपन्नः संसृतिं घोरं यन्नाम विवशो गृणन् । ततः सद्यो विमुच्येत यद्विभेति स्वयं भयम् ॥

(श्रीभागवतजी १/१/१४)

तृतीय शंका का समाधान –

तीसरी जो जिज्ञासा थी कि सच्चा सद्गुरु कौन है, उसके लक्षण क्या हैं ? यानि किन लक्षणों से हम उसकी पहचान करें तो सच्चे सद्गुरु के लक्षण श्रीभागवत में नारद जी ने बताए –

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।

इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥

(श्रीभागवतजी ४/२९/५१)

सच्चा सद्गुरु वही है जो केवल इतना जानता हो कि भगवान् ही जीव के सच्चे प्रियतम हैं और जिनके रास्ते पर चलने में अणुमात्र भी भय नहीं है –

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवातो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(श्रीगीताजी २/३९)

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्न पतेदिह ॥

(श्रीभागवतजी ११/२/३५)

जो इतना जानता है वही सच्चा विद्वान् है तथा वही वास्तविक गुरु व भगवान् है ।

जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय । (चैतन्यचरितामृत)

ग्यारहवें स्कंध के शुरुआत में भी योगेश्वरों ने माया से पार जाने के लिये गुरु की प्रपत्ति बताई, वहाँ भी उन्होंने सच्चे गुरु के लक्षण बताए हैं –

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

(श्रीभागवतजी ११/३/२१)

जिसके अन्दर तीन चीजें हैं वही सच्चा गुरु है –

(१) भक्तिशास्त्रों का सम्यक ज्ञान (२) ज्ञान केवल वाणी में न हो अपितु क्रियात्मक जीवन में हो यानि वह आराधना-उपासना परायण हो (३) ब्रह्म में अर्थात् भगवान् में उसकी सारी वृत्तियाँ शान्त हो गयी हों, उसको सच्चा सद्गुरु कहते हैं – ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥

(श्रीभागवतजी

१/१७/३९)

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् ।

विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥

(श्रीभागवतजी

१/१७/४१)

यदि ऐसा कोई गुरु मिल जाए तो निष्कपट भाव से उसके शरणागत हो जाओ, उसकी सेवा करो और उससे भागवत

धर्मों की शिक्षा लो; बस इतने से ही तुम भगवान् को अपने वश में कर लोगे –

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ॥

(श्रीभागवतजी ११/३/२२)

ऐसे गुरु में शिष्य की सम्पूर्ण शरणागति होनी चाहिए, ऐसा कोई गुरु मिल जाए तो उसको सब कुछ समर्पित कर दो, यही सच्चे शिष्य का कर्तव्य है, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।

यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मारपणं गुरौ ॥

(श्रीभागवतजी १०/८०/४१)

सच्छिष्य का यही कर्तव्य है कि विशुद्धभाव यानि निष्कपट भाव से वह सब कुछ गुरुदेव को अर्पण कर दे ।

शिष्य को ऐसा चाहिए गुरु कह सरबस देय ।

गुरु को ऐसा चाहिए शिष्य ते कछु नहिं लेय ॥

केवल बाहरी वस्तुओं का ही समर्पण नहीं बल्कि हमारे मन भीतर जो दुर्विचार उठ रहे हों उन्हें भी गुरु से छिपाए नहीं, गुरु को बता दे, यही निष्कपट भाव है । इस तरह की निष्कपट भाव की गुरु शरणागति से समस्त धर्मों की सिद्धि हो जाती है – नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।

तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥

(श्रीभागवतजी १०/८०/३४)

श्रुतियों में एक बड़ी विचित्र बात लिखी है कि मनुष्य की जितनी शरणागति गुरु में होती है, उतनी ही भगवान् में होती है उससे ज्यादा नहीं, हम जितने गुरु से निष्कपट हैं उतने ही भगवान् से, ये श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है –

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेताश्वेत-उपनिषद् - ६/२३)

जितना तुम्हारा गुरु के प्रति निष्कपट भाव होगा, तुम उतने ही चमकते जाओगे और सम्पूर्ण पारमार्थिक विषय हृदय में

स्वतः प्रकाशित हो जायेंगे । गीता जी में भी भगवान् ने कहा – तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(श्रीगीताजी ४/३४,३५)

गुरु में सच्चा प्रणिपात होना चाहिए फिर तुम्हें उनके द्वारा ऐसा ज्ञान मिलेगा, जिससे तुम्हारा सारा मोह भाग जाएगा और तुम उस ज्ञान को प्राप्त करके सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में और पीछे सच्चिदानन्दधन भगवान् में देखोगे । सच्चे गुरु भगवान् से अभिन्न होते हैं, उनको भगवान् के समान ही मानना चाहिए, उनमें मर्त्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए –

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक । (श्रीभक्तमालजी)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ (श्रीगर्गसंहिता)

आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

(श्रीभागवतजी ११/१७/२७)

सहजोबाई अनन्य गुरुनिष्ठ भक्त हुयीं हैं । गुरुनिष्ठा सम्बंधित उनका एक प्रसिद्ध पद है जिसमें वे कहती हैं कि मैं राम (भगवान्) का त्याग कर दूँगी परन्तु गुरु का त्याग कभी नहीं कर सकती हूँ – राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ ।

गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ ॥

हरि ने जन्म दियो जग माहीं । गुरु ने आवागवन छुटाहीं ॥

हरि ने पाँच चोर दिए साथी । गुरु ने लई छुटाय अनाथा ॥

हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी । गुरु ने काटी ममता बेरी ॥

हरि ने रोग-भोग उरझायौ । गुरु जोगी कर सबै छुटायौ ॥

हरि ने कर्म भर्म भरमायौ । गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥

हरि ने मो सँ आप छिपायौ । गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ ॥

प्रह्लादजी भगवान् से कहते हैं कि -

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भरमुद्रहतो विमूढान् ॥ (श्रीभागवतजी ७/९/४३)

मैं इस भवसागर से नहीं घबराता हूँ क्योंकि आपके गुणगान को मैं गा रहा हूँ तो फिर भवसागर से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है । होगा काल कोई शक्ति किन्तु आनन्द से भगवन्नाम कीर्तन करते चले जाओ तो काल कुछ भी नहीं है । केवल नाम का आश्रय करते चले जाओ क्योंकि वही सत् वस्तु है, काल की मत सोचो ।

दिव्य दीक्षा

“संप्रदीयते यस्मिन् सः सम्प्रदायः”

जिसमें सम्यक् वस्तु (अध्यात्म, सद्बस्तु) को प्रदान किया जाए, वह है ‘सम्प्रदाय’ ।

सम्प्रदायों में दीक्षाविधान इसलिए नहीं था कि हम भेदबुद्धि में पड़कर विभक्त हो जाएँ ।

दीक्षा क्या है? ‘दिव्य भाव’ का दान ही दीक्षा है ।

दिव्यं भावं यतो दद्यात् क्षिणोति दुरितानि च ।

तो दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वारम्भ विशारदैः ॥

(नारदपुराण ६४/२)

गुरुदेव दिव्य भावों का दान करते हैं, जिनसे पाप की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है । इन दिव्य भावों के स्थान पर यदि गुरु ने संकीर्ण विचार दे दिये तो समझो विष दे दिया । आजकल अधिकतर ‘भाव’ के स्थान पर ‘अभाव-दान’ हो रहा है । अभाव कलि का रूप है । परम रस-रसिक श्रीहिताचार्यजी ने कलि-कालुष्य को नष्ट किया । हरी सब कलिकाल की भय कृपा रूप जू वपु धर्यो ॥

(श्रीहित मंगल गान प्रकरण १२/२)

आज हम भेदोत्पन्न करके यदि कलहादि कलि-कालुष्य को बढ़ाते हैं, तो क्या यही आचार्यों का अनुगमन है?

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।

(श्रीभागवतजी ११/२१/२०)

क्लेश, क्रोध – ये सब कलि के ही रूप हैं, अतः एकाग्र मन से विचार करके विवेकमयी बुद्धि के द्वारा विशुद्ध भक्तिमय सिद्धान्त पर ही चलें । समग्र संसार ही गुण-दोषमय है, अतः सारासार का ज्ञान परमावश्यक है ।

जड चेतन गुण दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।

सन्त हंस गुण गहर्हि पय परिहरि बारि बिकार ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, बालकाण्ड - ६)

साधक को हंस की तरह नीर-क्षीर का विवेक होना आवश्यक है, जिससे ग्राह्य का ग्रहण कर सके एवं त्याज्य का त्याग कर सके । यह गुण परीक्षितजी के अन्दर था – नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।

कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥

(श्रीभागवतजी १/१८/७)

भ्रमरवत् सारग्राही राजा परीक्षित ने पापमय कलि में कोई दोष न देखकर एक महान गुण देखा कि सत्कर्मों की सिद्धि अति शीघ्र (मन से संकल्प करने मात्र से) होती है, अतः कलिकाल में आराधना (संकीर्तन) की विशेष महिमा है ।

इसी प्रकार साधक को आराधना के लिए सम्प्रदाय-परम्परा का ग्रहण एवं संकीर्णता के विष का त्याग करना चाहिए । आज एक-दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा, आचार्य-निन्दा, आचार्य वाणी-निन्दा जैसे घोर अपराध ने सम्पूर्ण वैष्णव-समाज को तेजहीन, शक्तिहीन व श्रीहीन कर दिया है ।

रोगी को पथ्य (औषधि-सेवन) आवश्यक है लेकिन कुपथ्य का निवारण उससे कहीं अधिक आवश्यक है । अतएव श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने कहा –

“विरोधिनो रूपमथापि ज्ञेयम्” (दशश्लोकी)

विरोधी तत्व का ज्ञान परम आवश्यक है ।

इसीलिए रामचरित्र छोड़कर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने सर्वप्रथम गुण-दोष का वर्णन किया –

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने ।

संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, बालकाण्ड - ६)

साधक को बहुत चतुर होना चाहिए ।

सुनिअ सुधा देखिअर्हि गरल सब करतूति कराल ।

जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, अयोकाण्ड - २८१)

अमृत जैसी वस्तु तो केवल सुनने को मिलती है और विष जैसी वस्तु सर्वत्र प्रत्यक्ष देखने को मिलती है । इसी प्रकार कौए, उल्लू और बगुले तो सर्वत्र ही देखे जाते हैं परन्तु हंस तो एक मानसरोवर में ही पाए जाते हैं । उपासक इतना चतुर हो कि स्वयं को विषपान से बचा सके अन्यथा सुधा के स्थान पर गरलपान ही करेगा व हंस के स्थान पर काक को गुरु बनाकर अपवित्र वस्तुओं का सेवन, बक को गुरु बनाकर पाखण्ड एवं उल्लूक को पथ-प्रदर्शक बनाकर दुरत्यय अन्धकार में ही प्रवेश करेगा ।

राजा सत्यव्रत मनु के वचन –

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।

त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/५१)

संसार में ऐसे पथ-प्रदर्शक ही अधिक मात्रा में हैं, जिनका आशय दुरत्यय अन्धकार में ले जाने वाला है; लक्ष्य था भगवद्प्राप्ति का, परिणाम में अनन्त दूरी को प्राप्त हो गये -

“आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास ।”

अथवा

चलन-चलन सब कोई कहे विरला पहुँचे कोय ।

एक कंचन और कामिनी दुर्गम घाटी दोय ॥

चले थे भगवद्द्रस की प्राप्ति के लिए और पहुँच गये ममाहं- मति के अँधेरे कुँए में ।

ऐसे पथप्रदर्शकों की सर्वत्र निन्दा की गयी है ।

श्रीबिहारिनदेवजी की वाणी में -

जाकौ गुरु भसकै भुसै सिषि तौतरा खाइ ।

नाज खात मुहुं मारियै ए दोउ पसु प्राइ ॥

ए दोइ पसु प्राइ भाइ बिनु भटक भये खर ।

सनमुख है क्यों सकै डरै बरनाश्रम के डर ॥

कहत बिहारी दास मैड मीडै ही साकौ ।

रसिक अनन्य कहाइ कहै न सभा जस जाकौ ॥

(श्रीबिहारिनदेवजी कृत वाणी, पद सं. ९०)

ऐसे गुरु भुस-भक्षी गधा एवं शिष्य कीट-भक्षी पशु हैं ।

‘हंस’ जैसे गुरु तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त होते हैं जिनके आश्रय में शिष्य विशुद्ध भक्ति का दुग्धपान करता है ।

क्या कारण है जो ‘सनातन धर्म’ सबसे प्राचीन होने के साथ-साथ विश्वपूज्य था, आज उँगली पर गिनती के सनातन धर्मावलम्बी रह गये ।

कारण - ‘उपदेश’ ही विषमता का विष पिलाने लग गये ।

यह ‘संकीर्ण उपदेश’ आज जन-साधारण को दुरत्यय अंधकार में ले जा रहा है ।

संकीर्ण उपदेशकों से सावधान !

राजा सत्यव्रत मनु के मत्स्य भगवान् के प्रति वचन -

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरोह्यात्मागुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः ।

तथापि लोको न भवन्तमन्धीर्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/५२)

हे प्रभो ! सम्पूर्ण संसार के सुहृद (हितैषी) प्रिय, ईश्वर, आत्मा ही नहीं अपितु गुरु एवं ज्ञान भी आप ही हो ।

लक्ष्मणजी के रामजी के प्रति वचन - गुरु पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, अयोध्याकाण्ड - ७२)

हे नाथ ! मैं सहज स्वभाव से कह रहा हूँ कि आपके अतिरिक्त गुरु, माता, पिता किसी को मैं नहीं जानता हूँ । ‘परार्थनिष्ठा’ तो कहीं दिखाई ही नहीं देती । गुरु भी अपने शिष्य से आशा करता है, लोभ करता है ।

श्रीप्रह्लादजी के शब्दों में -

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यभिच्छन् यो राति चाशिषः ॥

(श्रीभागवतजी ७/१०/५)

आशा करने वाला न सच्चा गुरु है न ही उपदेश, एक अच्छा व्यापारी अवश्य हो सकता है । “जो गुरु करै शिष्य की आस । श्याम भजन ते भया उदास ॥” (श्रीबिहारिनदेवजी की वाणी - १४) गुरु निर्मोही चाहिए, शिष्य न छाँड़ै पास । (श्रीबिहारिनदेवजी) स्वार्थ की भावना से संकीर्णता ही सिद्ध हो सकती है, भक्ति तो नहीं । ऐसे ‘गुरु’ जो तुम्हें संकीर्ण-विचारों का विष पिला रहे हैं उनका वरण करने से तो अच्छा है, ‘गुरु’ मत बनाओ । जब तक सच्चे सद्गुरु न मिलें तब तक भगवान् को ही गुरु-रूप में स्वीकार करो अन्यथा जहर पिलाने वाले तो बहुत मिल जाएँगे । सभी जीवों के सच्चे हितैषी एकमात्र ‘श्रीभगवान्’ ही हैं - उमा राम सम हित जग माहीं ।

गुरु पितु मातु बन्धु प्रभु नाहीं ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, किष्किन्धाकाण्ड - १२)

अथवा स्वयं भगवान् श्रीराम ने कहा - गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा । सब मोहि कहँ जानै दृढ सेवा ॥

(श्रीरामचरितमानसजी, अरण्यकाण्ड - १६)

गुरु, माता, पिता, बन्धु, पति, दैवादि सभी सम्बन्ध मुझ में ही स्थापित कर लो । इस प्रसंग को समझने के लिए एक परम सत्य व प्रेरणादायी घटना है - जिस समय श्रीगुरुदेव के द्वारा वृन्दावन छोड़ देने की आज्ञा पर ‘श्रीभगवतरसिकजी महाराज’ प्रयाग के निकट अडैल ग्राम के समीप मठी में निवास कर रहे थे, उस समय किन्हीं

सन्तजी के द्वारा श्रीभगवतरसिकजी की वाणी को पढ़ते हुए 'गुरु श्रीललितमोहिनीदेवजी' का मन बहुत प्रसन्न हुआ किन्तु जब निम्नलिखित पद का क्रम आया –

चेला काहू के नहीं गुरु काहू के नाहिं ।
सखी लडैती लाल की रहै महल के माहिं ॥
रहै महल के माहिं टहल सब करै निरन्तर ।
दंपति अति अकुलाहिं पलक कहूँ परै जु अंतर ॥
भगवत भगवत कहै करै नाहिं हम बिन केला ।
ताते हम परिहरे देह मानी गुरु चेला ॥

(श्रीभगवतरसिक जी की वाणी- उत्तरार्द्ध पद सं. ४०)

यह पद सुनकर गुरुदेव का मन कुछ सकुचाया । अन्य किसी को दिखाने, सुनाने का साहस भी नहीं हुआ । प्रातः (जिस भी भावना से प्रेरित होकर) वह पद यमुना में प्रवाहित कर दिया किन्तु सत्य के प्रवाहित होने से मन व्यथित हो उठा । दूसरे दिन यमुना-स्नान को गये तो नीली धारा में बहता हुआ वह पत्र पुनः इस प्रकार सामने आ गया मानो किसी ने लाकर रख दिया हो, आश्चर्य के साथ ही मन की दुविधा भी बढ़ गयी । पत्र को ले आता हूँ तो समाज में कटु-सत्य को स्थापित करना होगा और यदि नहीं लाता हूँ तो सत्य का अनादर है तो भी पत्र को जल में डुबा ही दिया, तीसरे दिन भी वही क्रम रहा पुनः वह पत्र देखकर विचार करने लगे, न भीगता है और न डूबता ही है । तब स्वयं श्रीयमुनाजी ने प्रकट होकर कहा – “हे आचार्य प्रवर ! इस पत्र में सत्य की अग्नि है, जिसे पचाने की सामर्थ्य मुझमें भी नहीं है । आप इसे ले जाइए, इसके प्रचार-प्रसार से रसिकजनों का कल्याण होगा । सत्य कटु भी हो तो क्या, वह सर्वदा स्वीकार करने योग्य है । सत्य को स्वीकार करना व कराना महापुरुषों का ही कार्य है ।”

श्रीयमुनाजी की आज्ञा से श्रीललितमोहिनीजी ने वह पत्र अपने हृदय से लगा लिया एवं शिष्यों को प्रचार-प्रसार का आदेश दिया । इसी का अग्रिम पद है –

हम सिष स्यामा स्याम के गुरु हम स्यामा स्याम ।
ओत प्रोत अरपन कियो निज मन तनु धन धाम ॥
(भगवतरसिकजी की वाणी)

हम शिष्य भी श्यामा-श्याम के हैं और गुरु भी श्यामा-श्याम के । वस्तुतः सम्बन्ध गुरु-शिष्य का हो अथवा पिता-

पुत्र का वह भगवान् में जितना घटित होता है, उतना अन्यत्र नहीं, यही तो अनन्य व्रत है ।

‘सच्चे गुरुजनों का स्वरूप’ स्वयं श्रीभगवतरसिकजी ने बताया है – गुरु वही जो विपिन बसावै ।

गुरु वही जो संत सेवावै, गुरु वही जो हरिहि मिलावै ॥
श्रीभगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम, धामी, जन इत्यादि में सुदृढ निष्ठा व साक्षात् उसकी प्राप्ति कराने वाले ही वास्तविक गुरु हैं ।

अतः कथनाशय है कि विशुद्ध भक्त के ‘दर्शन-स्पर्श व वचन-श्रवण रूपी सत्संग’ से सहज ही विशुद्ध भक्तिमय भाव का जन-जन में प्रचार-प्रसार हो जाता है ।

विशुद्ध भागवत धर्म कहता है –

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थ वाधनो धनम् ।

(श्रीभागवतजी ७/१५/१५)

धर्म के लिए भी धन की इच्छा मत करो और हम जैसे धन लोलुप धन के लिए भगवान् को भी बेच देते हैं ।

लोलुपता धन की है या रूप की अथवा मान-सम्मान की तुम्हें भोगवादिता की ओर उन्मुख कर भगवद् विमुख बना ही देगी । सांसारिक रति से वैराग्य के पश्चात् ही धाम-धामी में निष्ठा होगी और उनकी कृपा मिल सकेगी ।

सौ पापन को मूल है एक रुपैया रोक ।

साधु है संग्रह करै हारे हरि सों थोक ।

साधु है संग्रह करै दूजे दिन को नीर ।

तरे न तारे और को कह गये दास कबीर ॥

बातें त्याग की, आचरण संग्रह का, ऐसे उपदेशक आत्मोद्धार भी नहीं कर सकते फिर लोकोद्धार क्या करेंगे?

श्रीकबीरदास जी के वचन –

यारो कोई सफा न देखा दिल का ।

लप-लप बातें फक-फक कपडा, भरा गुरुर जहन का ॥

बिल्ली देखी बगुला देखा, साँप जो देखा बिल का ।

ऊपर ऊपर सुन्दर लागे, अन्दर काले दिल का ॥

काजी देखा मुल्ला देखा, पण्डित देखा छल का ।

औरन को बैकुण्ठ बतावै, आप नरक में सटका ॥

पढे नहीं गुरु मन्तर कोई, भरा गुमान कुमति का ।

बैठत नहीं साधु की संगत, करे गुमान जहन का ॥

मोह फाँस में गला बंधा है, भोग करे कामिन का ।

काम क्रोध दिन रात सतावे, लानत ऐसे मन का ॥
सत्य नाम को मूढ पकड़ ले, छोड़ कपट सब दिल का ।
कहे 'कबीर' सुनो सुल्ताना, पहिर फकीरी खिल का ॥
कुलीनतादि कारणों से उत्पन्न हुआ अभिमान, स्तम्भ
अर्थात् ऐंठ उत्पन्न कर कल्याण मार्ग अवरुद्ध कर देता है ।
ऐसी स्थिति में अपना ही उद्धार सम्भवनहीं है तो अन्य का
कैसे? केवल भगवत्कृपा प्राप्त जीव ही इससे सुरक्षित रह
पाते हैं ।

कहत सुनत बहुतक दिन बीते, भक्ति न मन में आई ।
स्याम कृपा बिनु साधु संग बिनु, कहि कौने रति पाई ॥
अपने अपने मत मद भूले, करत आपनी भाई ।
बस, अपने-अपने सम्प्रदाय के मद में भर जाते हैं,
मनमाना करते हैं । यहाँ तक कि मूलाचार्यों से भी विमुख
हो जाते हैं ।

कहयौ हमारो बहुत करत हैं, बहुतनि में प्रभुताई ॥
हजारों शिष्य हो गये, प्रभुता बढ़ गयी, अब तो हम जो
कर रहे हैं वही ठीक है ।

मैं समझी सब काहु न समझी, मैं सबहिन समझाई ।
हमने सब समझ लिया, बाकी कोई नहीं समझ सका ।
भोरे भक्त हुते सब तबके, हमतो बहु चतुराई ॥
पूर्ववर्ती रसिक तो भोरे थे, अब हम चतुर रसिक हुए हैं ।
हमही अति परिपक्व भये, औरनि कै सबै कचाई ।

हम ही परिपक्व हैं, अन्य तो सब कच्चे हैं ।
कहनि सुहेली रहनि दुहेली, बातनि बहुत बडाई ॥
कह कुछ रहे हैं और कर कुछ रहे हैं ।
हरि मन्दिर माला धरि गुरु करि, जीवन के दुखदाई ।
गुरु बना लिये, तिलक लगा लिया, माला धारण कर ली
और वैष्णव वेष में समाज के विनाशक बन गये ।

दया दीनता दास भाव बिन, मिलै न 'व्यास' कन्हाई ॥
(व्यास वाणी) तिलक बनाइ चले स्वामी है, विषयिनि के
मुख जोए । किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए ॥

(सूर विनय पत्रिका - ६०) ऐसी स्थिति में रस प्राप्ति कहाँ
! रसिक कौन ? रसिक के द्वादश लक्षण महावाणी के
अनुसार -

जो कोउ प्रभु के आश्रय आवै । सो अन्याश्रय सब
छिटकावै ॥ विधि निषेध के जे जे धर्म । तिनको त्याग रहे
निष्कर्म ॥ झूठ क्रोध निन्दा तजि देहीं । बिन प्रसाद मुख
कौर न लेहीं ॥ सब जीवनि पर करुणा राखै । कबहुँ कठोर
बचन नहिं भाखे ॥ मन माधुर्य रस माहि समावें । घरी पहर
पल वृथा न खोवै ॥ सतगुरु के मारग पगु-धारें । हरि
सतगुरु बिचि भेद न पारें ॥ ए द्वादश लच्छिन अवगाहें । जे
जन परा परम पद चाहें ॥

(महावाणी, सिद्धान्त सुख - ३१)

मान लीला स्थल - मान मंदिर, कोई आश्रम या संस्था विशेष स्थल नहीं अपितु श्री राधा कृष्ण
की कित्तव लीला स्थली में अति विशिष्ट है। यह है सम्पूर्ण सृष्टि के आराध्य का आराधना स्थल ।

मंदिर जीर्णोद्धार के इस परम पुनीत कार्य में
अपना यथासंभव योगदान देकर अनंत पुण्य के भागी बनें

संपर्क : 9927338666
www.maanmandir.org
YOUTUBE/maanmandir
(कित्तव लाक्षण सत्यसंग)

ACCOUNT NAME
SHRI MAAN BIHARI
LAL MANDIR SEVA
ACCOUNT NUMBER: 59109927338666
IFSC CODE: HDFC0000268
BANK: HDFC BANK LTD
BRANCH: BSA COLLEGE, MATHURA



गौ-सेवकों की जिज्ञासा पर माताजी गौशाला का Account number दिया जा रहा है -

SHRI MATAJI GAUSHALA, GAHVARVAN, BARSANA, MATHURA

Bank - Axis Bank Ltd , A/C - 915010000494364

IFSC - UTIB0001058 BRANCH - KOSI KALAN,

MOB. NO. - 9927916699



३५



अमेरिका(California,baltimore)में साध्वी मुरलिकाजी ,डॉ. रामजीलालजी शास्त्री, श्री राधिकेशजी





अमेरिका (Cincinnati city) में साध्वी मुरलिकाजी,
डॉ. श्री रामजीलालजी शास्त्रीजी, श्री राधिकेशजी

३६



RNI REFERENCE NO. 1313397- REGISTRATION NO. UP BIL-2017/72945-TITLE CODE UP BIL-04953 POSTAL REGD.NO. 093/2021-2023
 श्री मान मन्दिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा गुप्ता ओफ़सेट प्रिंटेर्स A- 125/1 , wazipur industriyal
 area, new delhi- 52 से मुद्रित एवं मान मन्दिर सेवा संस्थान, गहवरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित [AGRA/WPP-12/2021-2023 AT 22.12.23]